

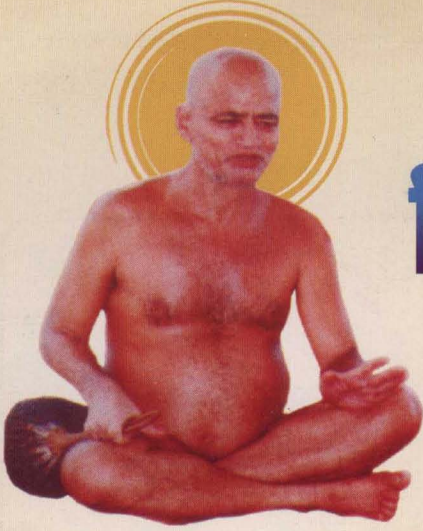
जिनभाषित

वीर निर्वाण सं. 2533

श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि
कोनी जी, पाटन का एक विहंगम दृश्य

श्रावण, वि.सं. 2064

अगस्त, 2007



आचार्य श्री विद्यासागर जी के दोहे

55

न्यायालय में न्याय ना, न्यायशास्त्र में न्याय।
झूठ छूटता, सत्य पर, टूट पड़े अन्याय ॥

56

सीमा तक तो सहन हो, अब तो सीमा पार।
पाप दे रहा दण्ड है, पड़े पुण्य पर मार ॥

57

सौ-सौ कुम्हड़े लटकते, बेल भली बारीक।
भार नहीं अनुभूत हो, भले संघ गुरु ठीक ॥

58

जिसके स्वामीपन रहे, नहीं लगे वह भार।
निजी काय भी भार क्या लगता कभी कभार? ॥

59

कर्त्तापन की गन्ध बिन, सदा करे कर्त्तव्य।
स्वामीपन ऊपर धरे, ध्रुव पर हो मन्तव्य ॥

60

सन्तों के आगमन से, सुख का रहे न पार।
सन्तों का जब गमन हो, लगता जगत असार ॥

61

सुन, सुन गुरु-उपदेश को, बुन बुन मत अघजाल।
कुन-कुन कर परिणाम तू, पुनि पुनि पुण्य सँभाल ॥

62

निर्धनता वरदान है, अधिक धनिकता पाप।
सत्य तथ्य की खोज में, निर्गुणता अभिशाप ॥

63

नीर नीर है क्षीर ना, क्षीर क्षीर ना नीर।
चीर चीर है जीव ना, जीव जीव ना चीर ॥

64

कर पर कर धर करणि कर, कल-कल मत कर और।
वरना कितना कर चुका-कर मरना ना छोर ॥

65

यान करे बहरे इधर, उधर यान में शान्त।
कोरा कोलाहल यहाँ, भीतर तो एकान्त ॥

66

सूरज दूरज हो भले, भरी गगन में धूल।
सर में पर नीरज खिले, धीरज हो भरपूर ॥

67

बान्धव रिपु को सम गिनो, संतों की यह बात।
फूल चुभन क्या ज्ञात है! शूल चुभन तो ज्ञात ॥

68

क्षेत्र काल के विषय में, आगे पीछे और।
ऊपर नीचे ध्यान दूँ, ओर दिखे ना छोर ॥

69

स्वर्ण-पात्र में सिंहनी, दुग्ध टिके नाऽन्यत्र।
विनय पात्र में शेष भी, गुण टिकते एकत्र ॥

70

परसन से तो राग हो, हर्षण से हो दाग।
घर्षण से तो आग हो, दर्शन से हो जाग ॥

71

माँग सका शिव माँग ले, भाग सका चिर भाग।
त्याग सका अघ-त्याग ले, जाग सका चिर जाग ॥

72

साधु-सन्त कृत शास्त्र का, सदा करो स्वाध्याय।
ध्येय, मोह का प्रलय हो, ख्याति-लाभ व्यवसाय ॥

‘पूर्णादयशतक’ से साभार

जिनभाषित

सम्पादक
प्रो. रतनचन्द्र जैन

कार्यालय

ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)
फोन नं. 0755-2424666

सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, मदनगंज किशनगढ़
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर

शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कँवरलाल पाटनी
(मे. आर.के.मार्बल)
किशनगढ़ (राज.)
श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282 002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-2851428, 2852278

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	1100 रु.
वार्षिक	150 रु.
एक प्रति	15 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

- ◆ आचार्य श्री विद्यासागर जी के दोहे आ.पृ. 2
- ◆ सम्पादकीय : 'दिया' दे दिया 2
- ◆ प्रवचन
 - आत्मानुभूति ही समयसार : आचार्य श्री विद्यासागर जी 4
- ◆ संस्कृत काव्य
 - श्रीशान्त्यष्टकम् : मुनि श्री प्रणम्यसागर जी 10
 - शान्तिजिन-स्तवनम् : पं. शिवचरनलाल जैन आ.पृ. 3
- ◆ लेख
 - जैनी कौन हो सकता है? : स्व. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार 12
 - विरोध अकालमरण का, पोषण नियतिवाद का
: स्व.पं. श्यामसुन्दरलाल जी शास्त्री 18
 - अदर्शन-परीषहजय : डॉ. रमेशचन्द्र जैन 21
 - प्रस्तावों की भावना समझें : डॉ. शीतलचन्द्र जैन 24
 - भगवान् महावीर की मूर्ति में परिवर्तन
: टी. एस. सुब्रमनियन 26
- ◆ जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा 27
- ◆ समाचार 9, 11, 23, 29, 32

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

'जिनभाषित' से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिये न्यायक्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

‘दिया’ दे दिया

श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि-कुण्डलपुर, जिला-दमोह (म.प्र.) में संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के सान्निध्य में दिनांक १४, १५, १६ मई, २००६ को त्रिदिवसीय श्रुताराधना शिविर का आयोजन किया गया। श्री दि. जैन सिद्धक्षेत्र प्रबंध समिति के आग्रह पर आयोजित इस शिविर में देश के ख्याति प्राप्त मनीषियों ने अपनी सहभागिता निभाई। इसी कड़ी में दिनांक १६ मई, २००७ को आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज के ३५वें समाधि दिवस पर उन्हीं के प्रमुख, प्रखर शिष्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज ने अपनी ‘कृतज्ञताञ्जलि’ में अपने गुरुदेव के विषय में जो यथार्थ भावभूति लिए हुए शब्दचित्र प्रस्तुत किया, उसे जिन्होंने सुना उन्हें लगा कि “गुरु हो तो वैसा और शिष्य हो तो ऐसा”। आप भी इस वक्तव्य को पढ़ेंगे तो गुरुभक्ति के भाव जागृत हुए बिना नहीं रहेंगे। यह मेरा परम सौभाग्य था कि मैंने उस वक्तव्य को तुरन्त लेखनीबद्ध कर लिया था, उसे ही हूबहू यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

अष्टपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि-

हिंसारहिए धम्मे अट्टारहदोसवज्जिए देवे।

णिगगंथे पव्वयणे सद्वहणं होइ सम्मतं॥

अर्थात् हिंसा रहित धर्म, अटारह दोषों से रहित देव और निर्ग्रन्थ गुरु में जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा प्राभृत ग्रंथों की रचना हुई। यह केवल आत्मतत्त्व की ही बात करते हैं।

ध्यान रखें रत्नकरण्ड श्रावकाचार की गाथा-

श्रद्धानं परमार्थानामासागम-तपोभृताम्।

त्रिमूढापोढमष्टाङ्गम्, सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥

अर्थात् मोक्षमार्ग के कारणस्वरूप देव-शास्त्र-गुरु का तीनमूढता रहित, अष्ट अंग सहित, आठ मद रहित श्रद्धान (विश्वास) करना सम्यग्दर्शन है।

मैं इस गाथा को पूर्वोक्त गाथा की छाया मानता हूँ। हिंसा से रहित धर्म हो, अटारह दोषों से रहित देव हो, निर्ग्रन्थ गुरु हो, इनमें श्रद्धान होना ही सम्यग्दर्शन है। चार कथाएँ हैं- संवेग, निर्वेद, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी। गुरुदेव (आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज)की कथा संवेग, निर्वेद की कथा है। आक्षेपिणी, विक्षेपिणी कथा यह न्याय के विषय हैं। गुरुदेव (आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज) स्वयं संस्कृतज्ञ प्राकृतज्ञ थे। वे कन्नड़ भाषी (विद्याधर) को कैसे समझाएँगे? उनकी अस्सी वर्ष की अवस्था, मुँह में दाँत नहीं, पलकें सफेद और बड़ी। शरीर बता रहा है कि अंतिम पड़ाव पर हैं लेकिन संवेग और निर्वेद की कथा उनके पास है। उनमें कितनी दया, करुणा होगी कि यह भी नहीं पूछा कि कितने पढ़े हो? पूछते तो हम बताते क्या (कन्नड़ में) कैसा संयोग? वे कुछ प्रतीक्षा में थे। ऐसा लगा कि जैसे चाहते हों कि जो है उसे दे जायें और जायें। क्या भावना? क्या उद्देश्य? स्वयं में तो जागृत थे ही, माँ की तरह। माँ भोजन करती है तो गर्भस्थ शिशु को मिल ही जाता है। मैं करके ही रहूँगा; ऐसा आश्रय मत रखो।

गुरु ने मुझे प्रगट कर दिया, दिया दे दिया और वे चल दिये।

वे अपने आप में तो थे ही; उन्होंने मुझसे जो कहा उसमें शिक्षा देने का भाव था। वे सदा शिक्षित, दीक्षित करना चाहते थे। यदि वे सल्लेखना नहीं लेते तो मुझे सल्लेखना से शिक्षित कैसे करते? लोग पूछते हैं आपने उन्हें कैसे सँभाला? मैं सोचता हूँ उन्होंने मुझे कैसे सँभाला? वृद्ध, बालक, प्रौढ़, विद्वान् उनके पास आ जाए तो उनके पास सभी को समझाने की शैली थी? वे हमेशा कहा करते थे- उदाहरण के बतौर। उनके मन में

हिचकिचाहट, अक्खड़पन नहीं था। वे प्रायः कहा करते थे कि क्यों कान फड़फड़ाते हो? श्री मूलचन्द लुहाड़िया (किशनगढ़) उनके पास आते थे। ये जिस तरह अभी जोर से बोलते हैं वैसे ही उस समय भी जोर से बोलते थे। गुरुदेव तब उनसे कहते थे- तुम तो जवान हो, धीरे से बोलो।

पंचमकाल में तूफान चारों ओर रहे। ऐसे में दिया (दीपक) बुझने न दें और अपने संस्कार दूसरी पीढ़ी को सौंप दें। संवेग और निर्वेद हमेशा उनके पास बने रहते थे।

मोक्षमार्ग में ख्याति, पूजा, लाभ से बचना मुश्किल है। गुरुदक्षिणा से इस बालक को (मुझे) बाँध दिया।

एक भी बात कहीं से निकाल लो उनकी परिणति से शिक्षा मिलती थी। उन दो वर्षों में वहाँ पानी की कमी थी। रेत उड़ कर आती थी तो भड़भूँजे की आड़ की गर्म रेत जैसी लगती थी। प्रश्न उठता था कि सल्लेखना कैसे होगी? चार उपवास के साथ जब काया छूटी तब ऐसी काया थी कि ऋद्धिधारी के समान लगती थी। अभिमान की बात उन्हें छूती नहीं थी। सल्लेखना के लिए अपनी उपाधि छोड़कर उन्होंने महान् सल्लेखना को प्राप्त किया। पाँच-छः वर्ष तक उनके सान्निध्य में जो कुछ प्राप्त किया वह दुर्लभ है।

आप लोगों के मुख से सुना कि उनकी समाधि हुए पैंतीस वर्ष हो गए, हमें तो लगता ही नहीं। हम विनती जानते हैं, गिनती नहीं। समय तो समय है। परसमय को छोड़कर स्वसमय में आ जाएँ। उनके उपकार का बदला तो हो नहीं सकता किंतु यही भावना है कि जब तक जीवन रहे उनका उपकार याद रहे; क्योंकि मोह से विपथ भी हो सकता है। उन्होंने उपकरण दिये और कहा जा बेटा, अब तुम्हें और कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उपकरण चार प्रकार के होते हैं- (१) सूत्र का अध्ययन (२) गुरु का वचन (३) विनय (४) यथाजात दीक्षा। यथाजात दीक्षा देना यह अंतिम उपकार है। विनय को मोक्ष का द्वार कहा है- विणओ मोक्खद्वारं।

हमें छोड़ा कहाँ? हमें तो सुरक्षित करके चले गए। वे विश्वस्त होकर चले गए। यह सोचकर कि इसका कुछ नहीं होगा; क्योंकि इसके चार उपकरण हैं। उनके पास भी चार उपकरण थे। यही कारण है कि उन्होंने कितनी भी कठिनाई आ जाए समता नहीं छोड़ी। अंत में समता को धारण कर चले गए। भीषण गर्मी थी; चलने में परेशानी होती थी, साइटिका से पीड़ित थे किंतु उनकी आस्था बड़ी प्रबल थी। उनसे अच्छी सल्लेखना नहीं हो सकती; क्योंकि वह आंतरिक थी।

श्री भागचन्द सोनी (अजमेर) उनके पास आते थे। वे महासभा के अध्यक्ष पद से निवृत्त हुए थे। वे परिवार सहित आए। सल्लेखना का १४वाँ दिन चल रहा था। शरीर निष्पन्द था किंतु जागृत थे। हमने कहा कि दर्शन दे दो तो आँख खोल दी। कितने जागृत थे वे? यदि सूत्र में एक भी गलती हो जाए तो तुरंत उंगली उठ जाती थी।

वे प्रकाशन से दूर थे। वे प्रचारक नहीं साधक थे। यह कला उनसे ले लेनी चाहिए। उसके संवेग, निर्वेद की कथा लेनी चाहिए।

वे स्वाभिमान को नहीं छोड़ते हुए अभिमान नहीं करते थे। परीक्षा को हमेशा मानते थे। जिस तरह दुकानदार ग्राहक देखकर भाव बदल लेते हैं वैसे वे नहीं थे। एक ही भाव था उनके पास। उनकी भाव प्रणाली एक थी। यह देखकर हृदय गद्गद् होता था। मैं अपने लिए गौरवशाली मानता हूँ कि वे हमें मिले। एक बार मैंने प्रश्न किया कि हमें कैसा करना? उन्होंने उत्तर दिया जैसे किया, वैसा करना।

उनके वचन हमें पूर्ण करना हैं। लें तो दें भी। ले लिया और नहीं दिया, यह ठीक नहीं; इसलिए उन्होंने दिया (दीपक) दे दिया। हमें भी उस क्षण की तलाश है जिस दिन एकत्व विभक्त हो अकेला बनना है। आचार्य पद कर्त्तव्य निष्ठा के लिए है। वैसे हम प्रतिदिन “णमो लोए सव्व साहूणं” कहते हैं। इस बार गुरुदेव की सल्लेखना के विषय में विशेष दृष्टि गई। इस बात का श्रेय श्रुत आराधना शिविर को ही जाता है।

तरणि ज्ञानसागर गुरो तारो मुझे ऋषीश।

करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष ॥

डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'

आत्मानुभूति ही समयसार

आचार्य श्री विद्यासागर जी

संसारी प्राणी को जो कि सुख का इच्छुक है उसे वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान् उपदेश देकर हित का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे भगवान् जिनका हित हो चुका है फिर भी जो हित चाहता है उसके लिए वे हित का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कृतकृत्य होने के उपरांत भी वे सहारा देते हैं और हमें भी भगवान् के रूप में देखना चाहते हैं। संसारी प्राणी सुख का भाजन तो बन सकता है किंतु अपनी पात्रता को भूला हुआ है अपनी आत्म-शक्ति को भूला हुआ है इसलिए सुखी नहीं बन पाता। महावीर भगवान् ने और उसके उपरांत होने वाले सभी आचार्यों ने इसी बात पर जोर दिया कि हम जो भी धार्मिक क्रियाएँ करें, यह सोचकर करें कि मैं भगवान् बनूँ। क्योंकि मैं भगवान् बन सकता हूँ। सारी धार्मिक क्रियाएँ यदि इस लक्ष्य को लेकर होती हैं तो श्रेयस्कर हैं। अन्यथा जिसे भगवान् बनने की कल्पना तक नहीं है तो उसकी सारी की सारी धार्मिक क्रियाएँ सांसारिक ही कहलाएंगी। क्रियाएँ अपने आपमें न सांसारिक हैं न धार्मिक हैं, दृष्टि के माध्यम से ही वे धार्मिक हो जाती हैं।

चलना आवश्यक है किंतु दृष्टि बनाकर चलना है। जब तक दृष्टि नहीं बनती तब तक चलने का कोई औचित्य नहीं है। जैसे आप गाड़ी चला रहे हैं चलाते-चलाते उसे रोक देते हैं और रिवर्स में डाल देते हैं। गाड़ी चलती है किंतु उल्टी-दिशा में चलने लगती है। मुख भले ही सामने है पर वह लक्ष्य की ओर न जाकर विपरीत जा रही है। इसीप्रकार दृष्टि के अभाव में सारी की सारी क्रियाएँ रिवर्स गाड़ी के अनुरूप हो जाती हैं, दिखता है कि हम जा रहे हैं। चल रहे हैं किंतु अभिप्राय यदि संसार की ओर हो भगवान् बनने का अभिप्राय न हो तो क्रियाएँ मोक्षमार्ग के अंतर्गत नहीं आ सकतीं। मोक्षमार्ग पर चलना तो तभी कहलायेगा जब हमारी मोक्ष पाने की इच्छा हो और कदम मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ें पीछे की ओर न जायें। हमारे कदम अपनी शक्ति के अनुरूप उसी ओर बढ़ें जिस ओर भगवान् गये हैं मुक्ति का पथ जिस ओर है। दो ही तो पथ हैं एक मुक्ति का और दूसरा संसार का। वैसे मार्ग एक ही है मुक्ति का लक्ष्य बनाकर सामने चलना मुक्ति का मार्ग है और पीछे संसार का लक्ष्य बनाकर मुड़ जाना यही संसार का मार्ग है।

जयपुर से आगरा की ओर जायेंगे तो आगरा का साइन बोर्ड मिलेगा और आगरा से जयपुर की ओर आयेंगे तो जयपुर का साइन बोर्ड मिलेगा मील का पत्थर एक ही है मार्ग भी एक ही है दिशा बदल जाती है तो वही आगरा जाता है और वही जयपुर जाता है। इस ओर से जाते हैं तो आगरा लिखा मिलता है और उधर से आते हैं तो जयपुर लिखा मिलता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'- सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र यह मार्ग मोक्ष का है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन ज्ञान और चारित्र यह संसार का मार्ग बन जाता है। चलने वाला व्यक्ति एक है और रास्ता भी एक ही है दिशाएँ दो हैं। और दिशा भी कोई चीज नहीं है जब चलता है तब दिशा बनती है। जब गति प्रारम्भ हो जाती है तब दिशा-बोध की आवश्यकता होती है। जब चलना प्रारम्भ होता है तभी उल्टा-सीधा इस तरह की बात ध्यान में रखना आवश्यक होता है। भगवान् बनने के लिए जो भी आगम के अनुरूप आप क्रिया करेंगे वह सब मोक्षमार्ग बन जायेगा। मोक्षमार्ग पर क्रम से जब हम कदम बढ़येंगे तो अवश्य सफलता मिलती चली जायेगी। सफलता क्रम के अनुरूप चलने से मिलती है और क्रम से मिलती है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग बनता है। यह हम सुनते हैं और सुनाते हैं। किंतु उस ओर हमारा जीवन ढलता नहीं है इसलिए अनुभूति नहीं हो पाती। ज्ञान से भी अधिक महत्त्व अनुभूति को आचार्यों ने दिया है। अनुभूति के साथ ज्ञान तो रहता ही है। ज्ञान पहले हो और अनुभूति बाद में हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है ज्ञान जहाँ हो वहाँ अनुभूति हो ही यह नियम नहीं है लेकिन जिस समय अनुभूति होगी उस समय ज्ञान अवश्य होगा। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए जैसे कोई डॉक्टर एम.बी.बी.एस हो जाता है तो भी उपाधि मात्र से डॉक्टर नहीं कहलाता। उसे प्रेक्टिस करना भी अनिवार्य होता है। जो ज्ञान के माध्यम से परोक्ष रूप से जाना था उसे प्रेक्टिस के दौरान प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करना होता है। एक दो साल प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेना पड़ती है। तभी रोगी की चिकित्सा करने की योग्यता आती है।

हमने ज्ञान किसलिए प्राप्त किया? तो कहना होगा कि उस वस्तु को जानने के लिए उस आत्म-तत्त्व की

अनुभूति के लिए किया। जब ज्ञान के माध्यम से उस आत्मा की अनुभूति की ओर कदम बढ़ जाते हैं तो वही मोक्षमार्ग बन जाता है। अन्यथा उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं रहता। अनुभूति भी रागानुरूप हो रही है या वीतरागानुरूप हो रही है यह भी देखना आवश्यक है क्योंकि परिणाम उसी के अनुरूप मिलने वाला है। मोक्षमार्ग की अनुभूति, वीतरागमार्ग की अनुभूति तो तभी होगी जब जैसा हमने उस मार्ग के बारे में सुना, देखा, जाना है, श्रद्धा और ज्ञान किया है उसको वैसा ही अनुभव में लाने का पुरुषार्थ करेंगे। जानने के लिए उतना पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता जितना कि अनुभव करने के लिए आवश्यक है। अनुभूति बिना पुरुषार्थ के नहीं होती।

बैठे-बैठे जाना जा सकता है किंतु बैठे-बैठे चला नहीं जा सकता। चलते समय देखा भी जाता है और जाना भी जाता है। मैं सदैव कहता हूँ देखभाल चलना। जीवन में जब भी अनुभूति होती है वह इन तीनों की (देख+भाल+चलना=दर्शन+ज्ञान+चारित्र) की समष्टि के साथ ही होती है। रागानुभव के साथ ज्ञान कितना भी हो उससे शान्ति, सुख, आनंद जो मिलना चाहिये वह नहीं मिल पाता है। 'सो इंद्र नाग नरेन्द्र वा अहमिंद्र के नाहीं कष्ट्यो'- वीतरागता के साथ जो आनंद है वह चाहे इंद्र हो, नागेंद्र हो, नरेन्द्र अर्थात् चक्रवर्ती हो या अहमिंद्र भी क्यों न हो उसे प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि ये सारे के सारे असंयमी हैं। संयम के साथ वीतरागता के साथ जो आत्मा की अनुभूति है वह एक प्रकार से शुद्ध परिणति है।

जो व्यक्ति भगवान् बनना चाहता है उसे सर्वप्रथम भगवान् के दर्शन करने होंगे, उसके माध्यम से बोध प्राप्त करना होगा फिर उसे स्वयं के अनुभव में लाने का प्रयास करना होगा। मैं भगवान् बन सकता हूँ- इस प्रकार का जो विचार उठेगा वह भगवान् को देखे बिना नहीं उठेगा इसलिए पहले भगवान् का दर्शन आवश्यक है। भगवान् के दर्शन से भावना प्रबल हो जाती है कि मुझे भगवान् बनना है। पर इतने मात्र से कोई भगवान् नहीं बनता। आगे की प्रक्रिया भी अपनाानी पड़ेगी। आँखों से देखा जाता है पाया नहीं जाता। पाने के लिए तो स्वयं वीतराग मार्ग पर चलना होगा, संयम धारण करना होगा, उसके उपरांत अपने आप में लीनता आयेगी। अनुभूति तभी होगी। तभी परमात्म स्वरूप की उपलब्धि होगी।

सभी संसारी जीवों की जो अनुभूति है वह सामान्य रूप से रागानुभूति है। उस अनुभूति की हम बात नहीं कर रहे किंतु मोक्षमार्ग में होने वाली वीतराग अनुभूति की बात यहाँ है। आत्मा के विकास के लिए स्वसंवेदन की आवश्यकता है पर वीतराग स्वसंवेदन की है। धीरे-धीरे अपनी दृष्टि को, जिन-जिन पदार्थों को लेकर राग-द्वेष उत्पन्न हो रहे हैं उन पदार्थों से हटाते चले जायें और दृष्टि को 'स्व' की ओर मोड़ते चले जायें तो वीतरागता आने में देर नहीं लगेगी। जिन पदार्थों के सम्पर्क से हमारा मन राग में जाता है हमारा ज्ञान राग का अनुभव करना प्रारंभ कर देता है उन पदार्थों से अलगाव रखें और ज्ञान की शुद्धि करना प्रारम्भ कर दें। धीरे-धीरे 'पर' से हटने के कारण आप अपनी ओर आ जायेंगे। ऐसा कोई शार्टकट नहीं है जिसके माध्यम से 'पर' के साथ संबंध रखते हुए भी हम आत्मानुभूति तक पहुँच जायें। रास्ता एक ही है दिशा बदलनी होगी। राग की सामग्री से उसे हटाकर वीतरागता की ओर आना होगा।

एक सेठजी थे। भगवान् के अनन्य भक्त। एक दिन वे गजानन-गणेश की प्रतिमा लेकर आये और खूब धूमधाम से पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। गजानन को मोदक बहुत प्रिय होते हैं इसलिए एक थाली में मोदक सजाकर नैवेद्य के रूप में रखे। सेठजी प्रतिमा के सामने प्रणिपात हुए माला फेरी, उसकी आरती की फिर वहीं बैठे-बैठे उस प्रतिमा को निहारने लगे। उसी बीच एक चूहा आया और उस थाली में से एक मोदक लेकर चला गया। सेठजी के मन में विचार आया कि देखो, भगवान् का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो सबसे बड़ा है वह भगवान् है और वह सर्वशक्तिमान है। ये गजानन तो भगवान् नहीं दिखते हैं। यदि ये भगवान् होते तो इस चूहे का अवश्य ही प्रतिकार करते। एक अदना सा चूहा इनका मोदक उठा ले गया और ये कुछ न बोले। उसे हटाने की सामर्थ्य ही नहीं है इनमें। हो सकता है कि चूहा, भगवान् से बड़ा हो मेरे समझने में कहीं भूल हो गयी है। और उस दिन से सेठजी ने चूहे की पूजा प्रारम्भ कर दी।

दो तीन दिन के उपरांत एक दिन चूहा जब बाहर आया तो उसे बिल्ली पकड़ ले गई ओ हो! अब अनुभव होता जा रहा है मुझे, सेठ जी ने सोचा मैं अब अनुभव की ओर बढ़ता जा रहा हूँ। जैसे-जैसे सेठ जी का अनुभव बढ़ता गया उनका आराध्य भी बदलता गया। अब बिल्ली

की पूजा में लीन हो गये। सबसे बड़ी यही है। जिस चूहे को गजानन नहीं पकड़ सके उस चूहे को इसने पकड़ लिया। यही सबसे बड़ी उपास्य है। सात-आठ दिन व्यतीत हो गये। बिल्ली का स्वभाव होता है कि कितना भी अच्छा खिला पिला दो वह चोरी अवश्य करेगी। एक दिन अंगीठी के ऊपर दूध की भगौनी रखी थी बिल्ली चोरी से दूध पीने लगी, सेठानी ने देख लिया और क्रोध में आकर उसने बिल्ली की पीठ पर एक लाठी मार दी, बिल्ली मर गई। सेठजी को जब सारी घटना मालूम पड़ी तो पहले तो खेद हुआ लेकिन तुरंत विचार आया कि जो मर गया वह कमजोर है। वह भगवान् नहीं हो सकता। लगता है सेठानी बड़ी है। उसने गजब कर दिया। गजानन चूहे से डर गये, चूहा बिल्ली की पकड़ में आ गया और अब बिल्ली सेठानी के हाथों समाप्त हो गयी।

सेठजी उसके चरणों में बैठ गये। अब सेठानी की पूजा प्रारंभ हो गयी। अनुभव धीरे-धीरे बढ़ रहा है। एक दिन प्रातः सेठजी ने सेठानी से कहा कि आज हमें दुकान में काम अधिक है। हम साढ़े दस बजे खाना खायेंगे, खाना तैयार हो जाना चाहिये। सेठानी ने कहा ठीक है। पर प्रतिदिन पूजा होने के कारण सेठानी प्रमादी हो गई थी, समय पर रसोई नहीं बन पायी। जब सेठजी आये तो बोली आइये, आइये। अभी तैयार हो जाती है। सेठजी क्रोधित हो उठे और सेठानी पर वार कर दिया सेठानी मूर्छित हो गयी जब होश आया तब सेठजी सोच में पड़ गये कि अभी तक तो मैं सेठानी को सबसे बड़ा समझ रहा था किंतु अब पता चला कि मैं ही बड़ा हूँ। अब मुझे अनुभव हो गया कि मुझ से बड़ा कोई भगवान् नहीं है और वह अपने आपमें लीन हो गया। आप सारी बात समझ गये होंगे। यह तो मात्र कहानी है।

इससे आशय यही निकला कि 'स्व' की ओर आना श्रेयस्कर है। स्व की ओर आने का रास्ता मिल सकता है तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र से ही मिल सकता है अन्य किसी से नहीं मिल सकता है। इसलिए उनको बड़ा मानना है और उनका सहारा तब तक लेना है जब तक कि हम अपने आप में लीन न हो जायें। भगवान् का दर्शन, भगवान् की पूजन, भगवान् बनने के लिए करना है। भगवान् की पूजा श्रीमान् बनने के लिए नहीं है। भगवत् पद की उपलब्धि सांसारिक दृष्टिकोण रखकर नहीं हो सकती। दृष्टि में परमार्थ होना चाहिये। हम जैसे-जैसे परमार्थभूत

क्रियाओं के माध्यम से राग-द्वेष को कम करते चले जायेंगे, वैसे-वैसे अपनी आत्मा के पास पहुँचते जायेंगे। यह प्रक्रिया ऐसी ही है इसके बिना कोई भगवान् नहीं बन सकता।

देवगुरुशास्त्र के माध्यम से जिस व्यक्ति ने अपने आपके जीवन को वीतरागता की ओर मोड़ लिया, वीतराग केंद्र की ओर मोड़ लिया वह अवश्य एक दिन आत्मा में विराम पायेगा। किंतु यदि देवगुरुशास्त्र के माध्यम से जो जीवन में बाहरी उपलब्धि की बांछा रखता हो तो उसे वही चीज मिल जायेगी आत्मोपलब्धि नहीं होगी। मुझे, एक बार एक व्यक्ति ने आकर कहा कि महाराज 'हमने अपने जीवन में एक सौ बीस बार समयसार का अवलोकन कर लिया! कंठस्थ हो गया मुझे।' अब उनसे क्या कहता मन में विचार आया कि कहूँ आपने मात्र कंठस्थ कर लिया है। और मैंने हृदयस्थ कर लिया है। आपने उसे शिरोङ्गम करके अपने मस्तिष्क में स्थान दिया है। आपको आनंद आया या नहीं पर हमारे आनंद का पार नहीं है। बंधुओ! आत्मानुभूति ही समयसार है। मात्र जानना समयसार नहीं है।

समयसार का अर्थ है 'समीचीन रूपेण अयतिगच्छति व्याप्नोति जानाति परिणमति स्वकीयान् शुद्धगुणपर्यायान् यः सः समयः'- अर्थात् जो समीचीन रूप से अपने शुद्ध गुण पर्यायों की अनुभूति करता है उनको जानता है उनको पहचानता है उनमें व्याप्त होकर रहता है उसी मय जीवन बना लेता है वह है 'समय' और उस 'समय' का जो सार है वह है समयसार। ऐसे समयसार के साथ व्याख्यान का कोई संबंध नहीं वहाँ तो मात्र एक रह जाता है। एकः अहं खलु शुद्धात्मा-एक मैं स्वयं शुद्धात्मा। ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है। ताश में बादशाह से भी अधिक महत्त्व रहता है इक्के का। एक अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है वह है शुद्धात्मा।

अपनी ओर आने का रास्ता बताने वाले देवगुरुशास्त्र हैं। सच्चे देव के माध्यम से शुद्धात्मा का भान होता है गुरु के माध्यम से वीतरागता की ओर दृष्टि जाती है शुद्धत्व की प्रतीति होती है और गुरुओं के माध्यम से प्राप्त जो जिनवाणी है उसमें कहीं भी राग-द्वेष का कोई स्थान नहीं रहता उसके प्रत्येक अक्षर से वीतरागता मुखरित होती है। इस तरह इन तीनों के द्वारा वीतरागता का बोध होता है, वीतरागता को हमें जीवन का केंद्र बनाना चाहिये।

एक व्यक्ति ने कहा कि महाराज इतनी चर्चा आदि

हम सुनते हैं तो कुछ न कुछ अंश में हमें भी वीतरागी मानना चाहिये। मैंने कहा कि भइया आपकी वीतरागता दूसरे तरह की है आप ऐसे वीतरागी हैं कि आपका आत्मा के प्रति राग नहीं है। आपकी अपेक्षा मैं रागी हूँ क्योंकि मेरा आत्मा के प्रति राग है। लेकिन आपकी आत्मा के प्रति उपेक्षा का यह परिणाम है कि जीवन में आत्मसंतोष नहीं है। सारा अनुभव राग-द्वेष का है राग-द्वेष युक्त अशुद्ध पर्याय का है। भगवान् की देशना तो यह है कि सभी के पास भगवत्ता विद्यमान है किंतु अव्यक्त रूप से है शक्ति रूप से है व्यक्त रूप में नहीं है। जो भीतर है उसका उद्घाटन करना है उसी के लिए मोक्षमार्ग की देशना है।

जिसे एक बार 'समय' की अनुभूति हो गयी क्या वह अपने समय को दुनियादारी में व्यर्थ खर्च करेगा। वह समय का अपव्यय कभी नहीं करेगा। जिस व्यक्ति को आत्मनिधि मिल गयी क्या वह दस बीस रुपये को चोरी करेगा। यदि करता है तो समझना अभी समयसार कंठस्थ हुआ है जीवन में नहीं आया है। एक वैद्यजी के पास एक रोगी आया और शीघ्र रोग मुक्त हो जाऊँ ऐसी दवा मांगी। वैद्यजी ने परचे पर दवाई लिख दी और कहा कि उसे दूध में मिलाकर पी लेना। रोगी घर आया और दूध में उस पचे को घोलकर पी गया। दूसरे दिन जब आराम नहीं लगा तो वैद्यजी से शिकायत की कि दवा का असर नहीं हुआ। वैद्यजी ने कहा ऐसा हो नहीं सकता औषधि एक दिन में ही रोग ठीक करने वाली थी। बताओ कौन सी दुकान से दवा ले गये थे। रोगी ने कहा आपने जो कागज दिया था वही तो थी औषधि। हमने उसी को घोलकर पी लिया।

भइया! यही हम कर रहे हैं। कोई ग्रंथ औषधि थोड़े ही है। ग्रंथ में जो औषधि लिखी है उसे खोजना होगा उसे प्राप्त करके उसका सेवन करना होगा। तभी अनादिकालीन जन्म-जरा-मरण का रोग नष्ट होगा। वीतरागता ही औषधि है उसके सेवन से उसे जीवन में अङ्गीकार करने से ही हम जन्म-मृत्यु के पार होंगे। आत्मा की अनुभूति कर सकेंगे। आप लोगों के लिए मंदिर वहीं है देव-गुरु-शास्त्र भी वहीं हैं सब कुछ है किंतु इसके उपरान्त भी आपकी गति उस ओर नहीं हो रही है उससे विपरीत हो रही है। जैसे तेली का बैल घूमकर वहीं आ जाता है। इसीप्रकार आपका जीवन व्यतीत हो रहा है। बाह्य सामग्री को लेकर आप स्वयं को बड़े मान रहे हैं। किंतु खड़े वहीं पर हैं।

आत्मानुभूति की ओर कदम नहीं बढ़ पा रहे हैं। जो जवान हैं या जो प्रौढ़ हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं आता तो कोई बात नहीं किंतु जो वृद्ध हैं उनमें भी कोई अन्तर नहीं आ रहा। वृद्धत्व के उपरान्त भी वृद्धत्व नहीं आ रहा। वही राग-द्वेष वही विषय-कषाय जो अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी ओर आज भी कदम बढ़ रहे हैं।

मनुष्य जीवन एक प्रकार का प्लेटफार्म है स्टेशन है। अनादिकाल से जो जीवन राग-द्वेष की ओर मुड़ गया है। उस मुख को हम वीतरागता की ओर मोड़ सकते हैं और उस ओर जीवन की गाड़ी को इसी मनुष्य जीवन रूपी स्टेशन से ही चला सकते हैं। यदि इस स्टेशन पर आ जाने पर भी आपको नींद आ जाती है, आलस्य आ जाता है तो एक बार इस स्टेशन से गाड़ी निकल जाने के बाद वह मुड़ नहीं सकेगी। आलस्य को आप कर्म का उदय मानकर मत बैठे रहिये। यह आपके पुरुषार्थ की कमी मानी जायेगी। लोग कहते हैं कि जैसे ही सामायिक करने बैठता हूँ जाप करने बैठता हूँ स्वाध्याय करने के लिये सभा में आ जाता हूँ तो निद्रा आने लगती है। मैं सोचता हूँ आपकी निद्रा बड़ी सयानी है। जिस समय आप दुकान पर बैठते हैं और रुपये गिनते हैं उस समय कभी निद्रा नहीं आयी। वहाँ पर नहीं आती और यहाँ पर आती है इसका अर्थ, पुरुषार्थ की कमी है। रुचि की कमी है।

एक शास्त्र सभा जुड़ी थी। एक दिन एक व्यक्ति को सोते देखकर पंडित जी ने पूछा क्यों भइया! सो तो नहीं रहे हो। वह कहता है नहीं। वह ऊँघ रहा था फिर भी वह नहीं ही कहता है। एक दो बार फिर ऐसा ही पूछा तो उसने वही जवाब दिया और ऊँघता भी रहा। फिर पंडित जी ने अपना वाक्य बदल दिया और कहा कि भइया सुन तो नहीं रहे हो। उसने तुरंत उत्तर दिया नहीं तो। बात समझ में आ गयी। सीधे-सीधे पूछने से पकड़ में नहीं आ रहा था। यहाँ पर आचार्य कुंदकुंद स्वामी पूछ रहे हैं कि समयसार पढ़ रहे हो तो सभी कह देंगे कि पढ़ तो रहे हैं यदि पढ़ रहे हैं तो परिवर्तन क्यों नहीं आ रहा है। सो रहे हैं किंतु कह रहे हैं कि सुन रहे हैं। यही प्रमाद है। समयसार पढ़ने सुनने अकेले की चीज नहीं है। प्रमाद छोड़कर अप्रमत्त दशा की ओर आने की चीज है। एक ही गाथा जीवन को आत्मानुभूति की ओर ले जाने के लिए पर्याप्त है पूरा समयसार रटने से कुछ नहीं होगा। जीवन उसके अनुरूप बनाना होगा। समयसार जीवन का नाम है

चेतन का नाम है और शुद्ध परिणति का नाम है पर की बात नहीं स्व की बात है।

आप कह सकते हैं कि महाराज आप बार-बार इन्हीं बातों की पुनरावृत्ति करते जा रहे हैं तो भइया! आप आत्मा की बात सुनना चाहते हैं या दूसरी बातें सुनना चाहते हैं। दूसरी संसार की बातें तो आप लोगों को मालूम ही हैं। आत्मा की बात अनुठी है। उसे अभी तक नहीं सुना। उसमें रुचि नहीं जागी, उसी रुचि को तो जगाना है। जिस ओर रुचि है उसको बताने की आवश्यकता नहीं है। धर्मोपदेश विषयों में रुचि जगाने के लिए नहीं है आत्मा की रुचि जगाने के लिए धर्मोपदेश है।

एक बच्चे ने अपनी माँ से कहा कि माँ मुझे भूख नहीं लगी आज कुछ नहीं खाऊँगा। 'क्यों' बेटा! बात क्या हो गई माँ ने कहा। 'कुछ नहीं माँ'। तो खाने का समय हो गया खा ले, सब शुद्ध है, शुद्ध आटा है घी है। 'मुझे भूख नहीं है।' बात यह है कि आपने जो एक रुपया दिया था न, वह रखा था उससे आज मैंने चाट-पकौड़ी खाली।' जिसे चाट पकौड़ी की आदत पड़ गई, अब उसे शुद्ध रसोई रुचिकर लगना मुश्किल है। ऐसे ही जिसे विषयों में रुचि हो गयी उसे आत्मा की बात रुचिकर मालूम नहीं पड़ती। भाई! थोड़ा विषयों को कम करो और आत्मा को चखो तो सही, कितना अच्छा लगता है। स्वाद में बदलाहट तभी आयेगी जब विषय सामग्री में रुचि होते हुए भी उसमें प्रयत्न पूर्वक कमी लायी जायेगी एक हाथ से यह भी खाते रहें, और दूसरे से वह, तो हाथ भले ही दो हैं किंतु मुंह तो दो नहीं हैं। जिह्वा तो एक ही है। स्वाद लेने की शक्ति तो एक ही है। सभी मिलाओगे तो मिश्रण हो जायेगा ठीक स्वाद नहीं आयेगा।

स्वात्मानुभूति का संवेदन आत्मा का जो स्वाद है वह स्वाद स्वर्ग में रहने वाले देवों के लिए दुर्लभ है। कहीं भी संसार में चले जाओ सभी के लिए दुर्लभ है। केवल उसी के लिए वह साध्यभूत है, संभव है जिन्होंने अपने संस्कारों को परिमार्जित कर लिया है, अर्थात् मनुष्य भव पाकर जो राग-द्वेष से ऊपर उठ गये हैं। जिनकी अनुभूति में वीतरागता उतर आयी है। आप भी यदि एक बार देवगुरुशास्त्र के प्रति विश्वास करके, इस काम को हाथ में ले लो, तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, दिलाना क्या विश्वास आपको स्वयं करना होगा, विश्वास दिलाया भी नहीं जा सकता स्वयं किया जा सकता है कि आत्मा की

उपलब्धि वीतरागता के द्वारा ही संभव है।

कहा गया है कि ऐसा कौन सा बुद्धिमान होगा जो परोक्ष ज्ञान के माध्यम से श्रद्धान में उतरने वाली चीज को हाथ में रखकर दिखा सके। केवली भगवान् अपनी आत्मा को जानते देखते हैं किंतु दिखा नहीं सकते। आत्मा को तो स्वयं देखना होगा, कोई दूसरा दिखा नहीं सकता। अनन्त शक्ति के धारक होकर भी केवली भगवान् अपनी आत्मा को हाथ पर रखकर दिखा नहीं सकते। आत्मा दिखने की वस्तु नहीं है आत्मा तो देखने की वस्तु है। स्वरूप तो बताया जा सकता है। लेकिन ज्ञात होने के बाद आपका यह परम कर्तव्य है कि प्रत्यक्षज्ञान को प्राप्त करके उसका संवेदन करें।

जैसे मार्ग पर जाती हुई गाड़ी को रोकना या चलाते रहना तो आसान है लेकिन उसकी दिशा बदलना उसे सही दिशा में मोड़ना आसान नहीं है प्रयत्न साध्य है। इसीप्रकार जीवन की धारा को वीतरागता की ओर मोड़ने में प्रयास की आवश्यकता है। किंतु वीतराग से राग की ओर जाने में कोई प्रयास आवश्यक नहीं है वह तो अनादिकाल से उसी ओर जाने में अभ्यस्त है। ऊपर की ओर कोई चीज फेंकने के लिए तो प्रयास की आवश्यकता है पर नीचे तो वह अपने आप आ जायेगी, प्रयास नहीं करना पड़ता। आप का अभ्यास तो ऐसा है कि अभी यहाँ से निवृत्त होते ही आपके कदम घर की ओर बढ़ जायेंगे। पर निज घर कहाँ है इस ओर किसी का ध्यान नहीं है।

मुनि का अभ्यास अपनी ओर मोड़ने का है और आपका गृहस्थ का अभ्यास घर की ओर जाने, उसी ओर बढ़ने का है। वीतरागता की ओर मोड़ने के लिए वाचनिक प्रयास, मानसिक प्रयास और शारीरिक प्रयास सभी प्रयास होना आवश्यक है। एक बार स्वभाव की उपलब्धि हो जायेगी तो फिर विभाव की ओर जाना संभव नहीं है। एक बार प्रयास करके आप उस ओर बढ़ जायें फिर यात्रा प्रारम्भ हो जायेंगी। थोड़ा परिश्रम होगा, पसीना आयेगा, कोई बात नहीं आने दो। टिकट खरीदते समय पसीना आता है, लाईन में लगते समय पसीना आ जाता है ट्रेन में चढ़ने समय पसीना आ जाता है किंतु फिर बाद में बैठ जाने के उपरांत ट्रेन चलने लगेगी तब आराम के साथ यात्रा होगी। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में चलते-चलते थोड़ी तकलीफ लगेगी पर बाद में आनंद भी मिलेगा।

प्रारम्भ में औषधि कड़वी लगती है पर बाद में

परिणाम मीठा निकलता है। यह मोक्षमार्ग रूप औषधि भी ऐसी ही है जो अनादिकालीन रोग को निकाल देगी और शुद्ध चैतन्य तत्त्व की उत्पत्ति उसमें से होगी और आनंद ही आनंद रहेगा उसमें। अध्यात्म को पढ़कर अपने जीवन को उसी ओर ढालने का प्रयास करना चाहिये, यही स्वाध्याय का और देव-गुरु-शास्त्र की उपासना का वास्तविक फल है। यदि प्रयास मोक्षमार्ग के लिए नहीं किया जायेगा तो संसार मार्ग अनादिकाल से चल रहा है और चलता

रहेगा। जीवन में सिवाय दुःख के कुछ हाथ नहीं आयेगा। अपनाना है तो एकमात्र अपनाते योग्य मोक्षमार्ग है जो कि स्वाश्रित है। देव-गुरु-शास्त्र उस स्वाश्रित मोक्षमार्ग में अनिवार्य आलम्बन हैं। इनके आलम्बन से हम भवसागर से पार उतर सकते हैं और अनंत काल के लिए अपने शुद्धात्मा में लीन हो सकते हैं।

'समग्र' 'चतुर्थखण्ड' से साभार

आचार्य श्री विद्यासागर जी के शुभाशीर्वचन मोक्षमार्ग-मोहमार्ग का अंतर

उक्त वचन दिनांक २७-०६-२००७ को कुण्डलपुर में आचार्य श्री विद्यासागर जी ने विद्वान् प्रशिक्षणार्थियों को आशीर्वाद देते हुए व्यक्त किये। शास्त्रपरिषद् के शताधिक विद्वान् भोपाल में आयोजित उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य में विद्वान् प्रशिक्षण शिविरोपरांत भोपाल पंचायत कमेटी के साथ ब्र. जयनिशांत टीकमगढ़, पं. पवन दीवान मुरैना, पं. जयंतकुमार सीकर के नेतृत्व में कुण्डलपुर पहुँचे। क्षेत्र की वंदना-लाभोपरांत, विशेष धर्मसभा का मंगलाचरण पं. अखिलेश जैन डिकौली ने गाथासूत्रों से किया। विद्वद्वर्ग व पंचायत कमेटी भोपाल ने श्रीफल भेंट किये। "जिनभाषित" का श्रुताराधना- विशेषांक पं. पवन दीवान, "प्रतिष्ठापराग" का नया संस्करण पं. मनीष टीकमगढ़ व "प्रेरणा" स्मारिका पं. मनीष शाहगढ़ ने आचार्य श्री को भेंट किये। शिविर की उपलब्धियों पर संस्कृत भाषा में पं. सोनल जैन दिगौड़ा ने व "नई पीढ़ी को दिशा" बिंदु पर पं. पंकज जैन वाराणसी ने प्रकाश डाला।

अनंतर आचार्य श्री ने शुभाशीर्वचनों को उक्त शीर्षक से प्रारंभ करते हुये कहा कि मोक्षमार्ग-माहमार्ग में इतना अंतर है जितना की पूर्व-पश्चिम में, धरती-आकाश में, सुख-दुःख में व स्व-पर के बीच में है। जब से संसार है तभी से मोक्ष है, मोक्षमार्ग पर चलने से मोहमार्ग उखड़ता है। योग्य पात्राभाव में भ. महावीर की दिव्यध्वनि ६६ दिन नहीं खिरी, तब इन्द्र द्वारा निमित्त उपस्थित किया गया। मुनि बनाया नहीं जाता मुनि बन जाता है। पहले दीक्षा, फिर प्रवचन हो, आज पहले प्रवचन सिखाते हैं। मुनिराजों को भी प्रवचन सिखाते हैं। आज आचरण/संयम पालन की नितान्त आवश्यकता है। आचार्य समन्तभद्र जी के अनुसार पाप शत्रु है, धर्म बंधु है। इन दोनों को समझने वाला श्रेयो ज्ञाता कहलाता है। मोह की वृद्धि में ज्ञान कुंठित हो जाता है। जब गौतम का मोह गला तब वह स्वतः दीक्षित हो गया, वीतरागता का प्रदर्शन न हो। आत्ममंथन होने पर केवलज्ञान होता है। तीर्थंकर महागुरु होते हैं उनके संसर्ग से इन्द्रभूति भी गुरु हो गये, नवोदित विद्वानों को ज्ञान के साथ आचरण की ओर बढ़ना चाहिए। केवल ज्ञानोत्पत्ति में मोह ही बाधक है अतः मोह नष्ट करने हेतु कर्म कसना चाहिए। आज बेल्ट कसते हैं। जबकि पहले धोती वाले कर्म कसते थे। वीतरागता को केवल शब्दों में नहीं चिन्तन में लाओ। हम मोह व मोक्ष दोनों नावों में सवार नहीं हों। सही नाव की पहिचान कर गुरु का आश्रय लें। गुरु तारण-तरण होते हैं। संसार की भूल-भूलैया में मत फँसो। आचार्य श्री ने कहा कि स्वपुरुषार्थ बलेन मोह पर प्रहार करें उसके प्रभाव में न आवें। अंत में आचार्य श्री ने आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी व आचार्य ज्ञानसागर जी को नमन किया।

पं. पवन कुमार दीवान
प्रचार मंत्री/शिविर संयोजक
अ.भा.दि. जैन शास्त्रपरिषद्

श्रीशान्त्यष्टकम्

(वंशस्थच्छन्दः)

मुनि श्री प्रणाम्यसागर जी
(आचार्य श्री विद्यासागर जी संघस्थ)

सुभारते येलुगमे निवासको
हि भीमगौडा सुजनेष्टपाटिलः ।
सुसत्यवत्यात्मज एव भूतले
स सातगौडा मुनिशान्तिसागरः ॥१॥

अन्वयार्थ- (सुभारते) इस श्रेष्ठ भारत देश में (येलुगमे) दक्षिणा-पथ के येलुगम नामक ग्राम में (निवासकः) निवास करने वाले (सुजनेष्टपाटिलः) श्रेष्ठ व्यक्तियों के इष्ट पाटिल (भीमगौड़ा) भीमगौडा (हि) तथा (सुसत्यवत्यात्मज) श्रीमती सत्यवती के पुत्र (एव) ही (भूतले) इस धरा पर (स सातगौडा) वह सातगौडा (मुनिशान्तिसागरः) मुनि शान्तिसागर हुए थे।

सुरोपमङ्गलच बलिष्ठदेहवान्
तथाऽन्तरङ्गे जिन वर्त्मनीरितः ।
महीभुवो यो निरपेक्षबांधवः
स शान्तिसिन्धुर्हृदि मे सदा वसेत् ॥२॥

अन्वयार्थ- (यः) जो (सुरोपमङ्गलः) देवों सी उपमा वाले शरीर (च) और (बलिष्ठदेहवान्) बलिष्ठदेह वाले थे। (तथा अन्तरङ्गः) तथा जिनका अन्तरङ्ग (जिनवर्त्मनि) जिनमार्ग में (ईरितः) दौड़ता रहता था। जो (महीभुवः) धरा पर उत्पन्न हुए जीवों के (निरपेक्षबांधवः) निरपेक्ष बंधु थे। (स) वह (शान्तिसिन्धुः) शान्तिसागर आचार्य (मे) मेरे (हृदि) हृदय में (सदा) हमेशा (वसेत्) वास करें।

नवाब्दिकेऽल्पायुषि यद्विवाहितो
मृतेऽपि तस्या न तथा पुनः कृतः ।
येनाऽऽयुषो मुक्तिरमा सुसेविता
स शान्तिसिन्धुर्हृदि मे वसेत् सदा ॥३॥

अन्वयार्थ- (यत्) चूँकि (नवाब्दिके) नव वर्ष की (अल्पायुषि) अल्प आयु में वह (विवाहितः) विवाहित हुए थे। (तस्याः) उस स्त्री के (मृतेऽपि) मर जाने पर भी (तथा न पुनः कृतः) उन्होंने पुनः विवाह नहीं किया। (येन) जिन्होंने (आ आयुषः) आयुपर्यन्त (मुक्तिरमा) मुक्तिरूपी स्त्री की (सुसेविता) अच्छी तरह सेवा की (स) वह (शान्तिसिन्धुः) श्री शान्तिसागर आचार्य (मे) मेरे (हृदि) हृदय में (सदा) हमेशा (वसेत्) वास करें।

भावार्थ- सातगौडा का नौवर्ष की आयु में किसी कन्या के साथ विवाह उनके माता-पिता ने करा दिया था। वह कन्या कुछ समय उपरांत मरण को प्राप्त हो गई। इसके बाद सातगौडा ने फिर विवाह नहीं किया और जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत के साथ रहकर बाद में मुनिव्रत अङ्गीकार करके मुक्ति स्त्री की सेवा की थी।

दिगम्बरीभूय सरन् स्वयं पुरा
प्रबोधयन् लुप्तमुनिप्रवृत्तिकान् ।
निजात्मसिद्धिं समवाप सुन्दरीं
स शान्तिसिन्धुर्हृदि मे सदा वसेत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ- (स्वयं पुरा) जो स्वयं ही पहिले (दिगम्बरीभूय) दिगम्बर दीक्षा लेकर (सरन्) विहार करते रहे और (लुप्तमुनि प्रवृत्तिकान्) लोप को प्राप्त हो रही मुनि संबंधी प्रवृत्तियों को (प्रबोधयन्) समझाते हुए (निजात्मसिद्धिं) अपनी आत्म सिद्धि वाली (सुन्दरीं) सुन्दरी को (समवाप) प्राप्त किये। (सः) वह (शान्तिसिन्धुः) श्री शान्तिसागर आचार्य (मे) मेरे (हृदि) हृदय में (सदा) हमेशा (वसेत्) निवास करें।

शठैर्जनैर्भीमविशालपन्नगैः
पिपीलिकाभिः प्रचुरोपसर्गतः ।
तपोधनोऽक्षोभत योगतो न यः
स शान्तिसिन्धुर्हृदि मे सदा वसेत् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ- (शठैःजनैः) दुष्ट जनों के द्वारा (भीमविशालपन्नगैः) भयंकर बड़े-बड़े सर्पों द्वारा और (पिपीलिकाभिः) चींटियों के द्वारा किये गये (प्रचुरोपसर्गतः) प्रचुर उपसर्ग से (यः तपोधनः) जो तपःपूत (न अक्षोभत) क्षोभ को प्राप्त नहीं हुए थे (सः) वह (शान्तिसिन्धुः) श्री शान्तिसागर आचार्य (मे) मेरे (हृदि) हृदय में (सदा वसेत्) हमेशा वास करें।

महाव्रतप्राज्य विभूतये कला
सुधीगणानां परिवेषतो वृतः ।
शशाङ्कशोभेव विशोभते स्म यः
स शान्तिसिन्धुर्हृदि मे सदा वसेत् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ- (यः) जो (महाव्रतप्राज्यविभूतये) महाव्रतों की विशाल विभूति के लिये (कला) चन्द्रमा की कला

समान थे, (सुधीगणानां) विद्वानों के समूहों के (परिवेषतः) मण्डल से (व्रतः) घिरे रहते थे। (शशाङ्कशोभा इव) चन्द्रमा की शोभा के समान जो (विशोभते स्म) सुशोभित होते थे, (सः) वह (शान्तिसिन्धुः) श्री शान्तिसागराचार्य (मे हृदि) मेरे हृदय में (सदा वसेत्) सदा निवास करें।

भावार्थ- जिस प्रकार चन्द्रमा की कलायें ही उसका वैभव होती हैं जिसके कारण वह संपूर्ण जगत में चमकता है और शांति देता है उसी प्रकार महाव्रतों का उत्कृष्ट वैभव ही उनकी कला समान था तथा चन्द्रमा जिसप्रकार नभ में अनेक तारागणों-नक्षत्रों से घिरा रहता हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार आचार्य देव विद्वान् मुनिराजों आदि साधुगणों से घिरे हुए चन्द्रमा के समान सुशोभित होते थे।

शिलाषु तिग्मे शिशिरे तरोस्तले

गिरौ गुहायां समधाद्यमद्वयम्।

तपस्तपस्यन् समतां विचिन्तयन्

स शान्तिसिन्धुर्हृदि मे सदा वसेत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ- (तिग्मे) ग्रीष्मकाल में (शिलाषु) शिलाओं पर (शिशिरे) शीतकाल में (तरोस्तले) वृक्ष के तल में, (गिरौ) पर्वत पर (गुहायां) गुफाओं में (तपः तपस्यन्) अनेक प्रकार के तप से तपस्या करते हुए (समतां विचिन्तयन्) समताभाव का चिन्तन करते हुए (यमद्वयम्) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग यम को (समधात्) जिन्होंने धारण किया था (सः) (शान्तिसिन्धुः) श्री शान्तिसागराचार्य (मे हृदि) मेरे हृदय में (सदा वसेत्) निरंतर स्थिर रहें।

समाधिमादाय सुबुद्धिपूर्वक

स्तपःश्रुतं सारमवाप्य देहतः।

चकार भिन्नञ्च चिदात्मसंपदां

स शान्तिसिन्धुर्हृदि मे सदा वसेत् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ- (सुबुद्धिपूर्वकः) जिन्होंने अच्छी तरह बुद्धि पूर्वक (समाधिम् आदाय) समाधि को ग्रहण करके (च देहतः) देह का (सारं) फल (तपःश्रुतं) तप और श्रुत (अवाप्य) प्राप्त करके (चिदात्मसंपदां) चैतन्य आत्म संपदा को (भिन्नं) भिन्न (चकार) किया था (सः) वह (शान्तिसिन्धुः) श्री शान्तिसागर आचार्य (मे हृदि) मेरे हृदय में (सदा वसेत्) हमेशा निवास करें।

भावार्थ- श्रुत की आराधना और तपस्या करना यही इस देह धारण का फल है, समाधि ग्रहण करने से इस फल की प्राप्ति होती है और उसी से आत्मा, देह से भिन्न प्रतिभासती है, ऐसी समाधि जिन्होंने बुद्धिपूर्वक अङ्गीकार की वे शान्तिसागर आचार्य हमारे हृदय में निवास करें।

भाद्रे शुक्ले द्वितीयायां कुन्थले पर्वते शुभे।

पक्षैकशून्यपक्षे हि विक्रमे स दिवं ययौ ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ- (शुभे) श्री देशभूषण- कुलभूषण महाराज की समाधि स्थली होने से शुभ (कुन्थले पर्वते) श्री कुन्थलगिरिक्षेत्र पर (भाद्रे) भाद्रमास के (शुक्ले) शुक्ल पक्ष की (द्वितीयायां) दोज को (विक्रमे) विक्रमसंवत्सर (पक्षैकशून्यपक्षे) २१०२ अङ्कानां वामतो गति के अनुसार २०१२ में (सः) वह मुनिश्रेष्ठ (हि) स्पष्टतः (दिवं) स्वर्ग को (ययौ) चले गये।

भावार्थ- विक्रम सं. २०१२ में श्री कुन्थलगिरि सिद्ध क्षेत्र पर भाद्र शुक्ला द्वितीया तिथि में सल्लेखना पूर्ण हुई।

नम्र निवेदन

'जिनभाषित' के शुल्क में वृद्धि

'जिनभाषित' के प्रकाशन में व्यय अधिक हो रहा है और आय कम। इसलिए प्रकाशन-संस्थान बड़ी आर्थिक कठिनाई का सामना कर रहा है। पत्रिका का प्रकाशन अखण्ड बनाये रखने के लिए इसके शुल्क में वृद्धि का निर्णय किया गया है, जो इस प्रकार है-

1. आजीवन सदस्यता शुल्क	-	1100 रु.
2. वार्षिक सदस्यता शुल्क	-	150 रु.
3. एक प्रति का मूल्य	-	15 रु.

वर्तमान आजीवन-सदस्यों से विनम्र अनुरोध है कि वे यदि पत्रिका के सहायतार्थ दान के रूप में 600 रु. की राशि प्रकाशक के पास भेजने की कृपा करें, तो हम उनके अत्यन्त आभारी रहेंगे। धन्यवाद।

विनीत

रतनलाल बैनाड़ा

प्रकाशक

जैनी कौन हो सकता है?

स्व.पं. जुगल किशोर जी मुख्तार

जो जीव जैनधर्म को धारण करता है वह जैनी कहलाता है। परंतु आजकल के जैनी जैनधर्म को केवल अपनी ही पैतृक संपत्ति (मौरूसी तरका) समझ बैठे हैं और यही कारण है कि, वे जैनधर्म दूसरों को नहीं बतलाते और न किसी को जैनी बनाते हैं। शायद उन्हें इस बात का भय हो कि, कहीं दूसरे लोगों के शामिल हो जाने से इस मौरूसी तरके में अधिक भागानुभाग होकर हमारे हिस्से में बहुत ही थोड़ा सा जैनधर्म बाकी न रह जाय! परंतु यह सब उनकी बड़ी भारी भूल तथा गलती है और आज इसी भूल तथा गलती को सुधारने का यत्न किया जाता है।

हमारे जैनी भाई इस बात को जानते हैं और शास्त्रों में जगह-जगह हमारे परम पूज्य आचार्यों का यही उपदेश है कि, संसार में दो प्रकार की वस्तुएँ हैं- एक चेतन और दूसरी अचेतन। चेतन को जीव और अचेतन को अजीव कहते हैं। जितने जीव हैं वे सब द्रव्यत्व की अपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टि से बराबर हैं- किसी में कुछ भेद नहीं है- सबका असली स्वभाव और गुण एक ही है। परंतु अनादिकाल से जीवों के साथ कर्म-मल लगा हुआ है, जिसके कारण उनका असली स्वभाव आच्छादित है, और वे नाना प्रकार की पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं। कीड़ा, मकोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, शेर, बघेरा, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बैल, मनुष्य, पशु, देव, और नारकी आदिक समस्त अवस्थाएँ उसी कर्म-मल के परिणाम हैं, और जीव की इस अवस्था को 'विभावपरिणति' कहते हैं।

जब तक जीवों में यह विभावपरिणति बनी रहती है तब ही तक उनको 'संसारी' कहते हैं और तभी तक उनको संसार में नाना प्रकार के रूप धारण करके परिभ्रमण करना होता है। परंतु जब किसी जीव की यह विभावपरिणति मिट जाती है। और उसका निजस्वभाव सर्वाङ्गरूप से अथवा पूर्णतया विकसित होता है तब वह जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है; और इसप्रकार जीव के 'संसारी' तथा 'मुक्त' ऐसे दो भेद कहे जाते हैं।

इस कथन से स्पष्ट है कि जीवों का जो असली स्वभाव है वही उनका धर्म है, और उसी धर्म को प्राप्त

कराने वाला जैनधर्म है। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिये कि, जैनधर्म ही सब जीवों का निजधर्म है। इसलिये प्रत्येक जीव को जैनधर्म के धारण करने का अधिकार प्राप्त है। इसी से हमारे पूज्य तीर्थकरों तथा ऋषि-मुनियों ने पशु-पक्षियों तक को जैनधर्म का उपदेश दिया है और उनको जैनधर्म धारण कराया है, जिनके सैकड़ों ही नहीं किंतु हजारों दृष्टांत प्रथमानुयोग के शास्त्रों (कथाग्रंथों) को देखने से मालूम हो सकते हैं।

हमारे अंतिम तीर्थकर 'श्री महावीर स्वामी' जब अपने इस जन्म से नौ जन्म पहले सिंह की पर्याय में थे तब उन्हें किसी वन में एक महात्मा के दर्शन करते ही जातिस्मरण हो आया था। उन्होंने उसीसमय, उक्त महात्मा के उपदेश से, श्रावक के बारह व्रत धारण किये, केसरी सिंह होकर भी किसी जीव को मारना और माँस खाना छोड़ दिया, और इसप्रकार जैनधर्म को पालते हुए सिंह पर्याय को छोड़कर वे पहले स्वर्ग में देव हुए और वहाँ से उन्नति करते-करते अंत में जैनधर्म के प्रसाद से उन्होंने तीर्थकर पद प्राप्त किया।

'पार्श्वनाथपुराण' में, अरविंद मुनि के उपदेश से एक हाथी के जैनधर्म धारण करने और श्रावक के व्रत पालन करने के संबंध में इसप्रकार लिखा है:-

अब हाथी संजम साधै। त्रस जीव न भूल विराधै ॥
समभाव छिपा उर आनै। अरि मित्र बराबर जानै ॥
काया कसि इन्द्री दंडै। साहस धरि प्रोषध मंडै ॥
सूखे तृण पल्लव भच्छै। परमर्दित मारग गच्छै ॥
हाथीगण डोह्यो पानी। सो पीवै गजपति ज्ञानी ॥
देखे बिन पाँव न राखै। तन पानी पंक न नाखै ॥
निजशील कभी नहिं खोवै। हथिनी दिश भूल न जोवै ॥
उपसर्ग सहै अति भारी। दुर्ध्यान तजै दुखकारी ॥
अघ के भय अंग न हालै। दृढ़ धीर प्रतिज्ञा पालै ॥
चिरलौं दुर्द्धर तप कीनो। बलहीन भयो तनछीनो ॥
परमेष्ठि परमपद ध्यावै। ऐसे गज काल गमावै ॥
एकै दिन अधिक तिसायौ। तब वेगवतीतट आयौ ॥
जल पीवन उद्यम कीधौ। कादोद्रह कुन्जर बीधौ ॥
निश्चय जब मरण विचारौ। संन्यास सुधी तब धारौ ॥
इससे साफ प्रगत है कि अच्छा निमित्त मिल जाने

और शुभ कर्म का उदय आ जाने पर पशुओं में भी मनुष्यता आ जाती है और वे मनुष्यों के समान धर्म का पालन करने लगते हैं। क्योंकि द्रव्यत्व की अपेक्षा सब जीव, चाहे वे किसी भी पर्याय में क्यों न हों, आपस में बराबर हैं। यही हाथी का जीव, जैनधर्म के प्रसाद से, इस पशुपर्याय को छोड़कर बारहवें स्वर्ग में देव हुआ और फिर उन्नति के सोपान पर चढ़ता-चढ़ता कुछ ही जन्म लेने के पश्चात् पूज्य तीर्थंकर 'श्रीपार्श्वनाथ' हुआ था।

इसीतरह और बहुत से पशुओं ने जैनधर्म को धारण करके अपने आत्मा का विकास और कल्याण किया है। जब पशुओं तक ने जैनधर्म को धारण किया है, तब फिर मनुष्यों का तो कहना ही क्या? वे तो सर्व प्रकार से इसके योग्य और दूसरे जीवों को इस धर्म में लगाने वाले ठहरे। सच पूछा जाय तो, किसी भी देश, जाति या वर्ण के मनुष्य को इस धर्म के धारण करने की कोई मनाही (निषेध) नहीं है। प्रत्येक मनुष्य खुशी से जैनधर्म को धारण कर सकता है। इसी से सोमदेवसूरि ने कहा है कि:-

“मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपिजन्तवः।”

अर्थात्- मन, वचन, काय से किये जाने वाले धर्म का अनुष्ठान करने के लिये सभी जीव अधिकारी हैं।

जैन-शास्त्रों तथा इतिहास-ग्रंथों के देखने से भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है और इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि, प्रायः सभी जातियों के मनुष्य हमेशा से इस पवित्र जैनधर्म को धारण करते आए हैं और उन्होंने बड़ी भक्ति तथा भाव के साथ इसका पालन किया है।

देखिये, क्षत्रिय लोग पहले अधिकतर जैनधर्म का ही पालन करते थे। इस धर्म से उनको विशेष अनुराग और प्रीति थी। वे जगत का और अपनी आत्मा का कल्याण करनेवाला इसी धर्म को समझते थे। हजारों राजा ऐसे हो चुके हैं जो जैनी थे अथवा जिन्होंने जैनधर्म की दीक्षा धारण की थी। खासकर, हमारे जितने तीर्थंकर हुए हैं वे सब ही क्षत्रिय थे। इस समय भी जैनियों में बहुत से जैनी ऐसे हैं- जो क्षत्रियों की सन्तान में से हैं परंतु उन्होंने क्षत्रियों का कर्म छोड़कर वैश्य का कर्म अङ्गीकार कर लिया है, इसलिये वैश्य कहलाते हैं। इसीप्रकार ब्राह्मण लोग भी पहले जैनधर्म को पालन करते थे और इस समय भी कहीं- कहीं सैकड़ों ब्राह्मण जैनी पाये जाते हैं। जिससमय भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने क्षत्रियों आदि की परीक्षा

लेकर जिनको अधिक धर्मात्मा पाया उनका एक ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था उस समय तो ब्राह्मण लोग गृहस्थ जैनियों के पूज्य समझे जाते थे और बहुत काल तक बराबर पूज्य बने रहे। परंतु पीछे से जब वे स्वच्छंद होकर अपने जैनधर्म-कर्म में शिथिल हो गये और जैनधर्म से गिर गये तब जैनियों ने आम तौर से उनका पूजना और मानना छोड़ दिया। परंतु फिर भी इस ब्राह्मण वर्ण में बराबर जैनी होते ही रहे। हमारे परम पूज्य गौतम गणधर, भद्रबाहु स्वामी और पात्रकेसरी आदिक बहुत से आचार्य ब्राह्मण ही थे, जिन्होंने चहुँ ओर जैनधर्म का डंका बजाकर जगत् के जीवों का उपकार किया है। रहे वैश्य लोग, वे जैसे इस वक्त जैनधर्म को पालन करते हैं, वैसे ही पहले भी पालन करते थे। ऐसी ही हालत शूद्रों की है, वे भी कभी जैनधर्म को धारण करने से नहीं चूके और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक तक तो होते ही रहे हैं। इस वक्त भी जैनियों में शूद्र जैनी मौजूद हैं। बहुत से जैनी शूद्रों का कर्म (पेशा) करते हैं। और शूद्र ही क्यों? हमारे पूर्वज तीर्थंकरों तथा ऋषि-मुनियों ने तो चांडालों, भीलों और म्लेच्छों तक को जैनधर्म का उपदेश देकर उन्हें जैनी बताया है, और न केवल जैनधर्म का श्रद्धान ही उनके हृदयों में उत्पन्न किया है बल्कि श्रावक के व्रत भी उन से पालन कराये हैं, जिनकी सैकड़ों कथाएँ शास्त्रों में मौजूद हैं।

'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि, एक 'त्रिपद' नाम के धीवर (कहार) की लड़की का जिसका नाम 'पूतिगंधा' था और जिसके शरीर से दुर्गंध आती थी समाधिगुप्त मुनि ने श्रावक के व्रत दिये। वह लड़की बहुत दिनों तक आर्यिकाओं के साथ रही, अंत में सन्यास धारण करके मरी तथा सोलहवें स्वर्ग में जाकर देवी हुई और फिर वहाँ से आकर श्रीकृष्ण की पटरानी 'रुक्मिणी' हुई।

चम्पापुर नगर में 'अग्निभूत' मुनि ने, अपने गुरु सूर्यमित्र मुनिराज की आज्ञा से, एक चांडाल लड़की को, जो जन्म से अंधी पैदा हुई थी और जिसकी देह से इतनी दुर्गंध आती थी कि कोई उसके पास जाना नहीं चाहता था और इसीकारण वह बहुत दुखी थी, जैनधर्म का उपदेश देकर श्रावक के व्रत धारण कराये थे। इसकी कथा सुकुमालचरित्रादिक शास्त्रों में मौजूद है। यही चांडाली का जीव दो जन्म लेने के पश्चात् तीसरे जन्म में 'सुकुमाल' हुआ था।

‘पूर्णभद्र’ और ‘मानभद्र’ नाम के दो वैश्य भाइयों ने एक चांडाल को श्रावक के व्रत ग्रहण कराए थे और उन व्रतों के कारण वह चांडाल मरकर सोलहवें स्वर्ग में बड़ी ऋद्धि का धारक देव हुआ था, जिसकी कथा पुण्यास्रव कथाकोश में पाई जाती है।

‘हरिवंशपुराण’ में लिखा है कि, गंधमादन पर्वत पर एक ‘परवर्तक’ नाम के भील को श्रीधर आदिक दो चारण मुनियों ने श्रावक के व्रत दिये। इसीप्रकार म्लेच्छों के जैनधर्म धारण करने के संबंध में भी बहुत सी कथाएँ विद्यमान हैं, जबकि जैनी चक्रवर्ती राजाओं ने तो म्लेच्छों की कन्याओं से विवाह तक किया है। ऐसे विवाहों से उत्पन्न हुई सन्तान मुनि-दीक्षा ले सकती थी, इतना ही नहीं किंतु म्लेच्छ देशों से आए हुए म्लेच्छ तक भी मुनिदीक्षा के अधिकारी ठहराये गये हैं।^१

श्रीनेमिनाथ के चचा वसुदेवजी ने भी एक म्लेच्छ राजा की पुत्री से, जिसका नाम जरा था, विवाह किया था, और उससे ‘जरत्कुमार’ उत्पन्न हुआ था, जो जैनधर्म का बड़ा भारी श्रद्धानी था और जिसने अंत में जैनधर्म की मुनिदीक्षा धारण की थी। यह कथा भी हरिवंशपुराण में लिखी है।^२ और इसी पुराण में, जहाँ पर श्रीमहावीर स्वामी के समवसरण का वर्णन है वहाँ पर यह भी लिखा है कि समवसरण में जब श्रीमहावीर स्वामी ने मुनिधर्म और श्रावकधर्म का उपदेश दिया तो उसको सुनकर ‘बहुत से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि हो गये और चारों ही वर्ण के स्त्री-पुरुषों ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये’। इतना ही क्यों? उनकी पवित्र वाणी का यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि कुछ जानवरों ने भी अपनी शक्ति के अनुसार श्रावक के व्रत धारण किये। इससे भली-भांति प्रकट है कि, प्रत्येक मनुष्य ही नहीं बल्कि प्रत्येक जीव जैनधर्म को धारण कर सकता है। इसलिये जैनधर्म सबको बतलाना चाहिये।

इन सब उल्लेखों पर से, यद्यपि प्रत्येक मनुष्य खुशी से यह नतीजा निकाल सकता है कि, जैनधर्म आज-कल के जैनियों की खास मीरास नहीं है, उस पर मनुष्य क्या, जीवमात्र को पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त है और प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति अथवा सामर्थ्य के अनुसार उसको धारण और पालन कर सकता है, फिर भी यहाँ पर कुछ थोड़े से प्रमाण और उपस्थित किये जाते हैं जिससे इस विषय

के संदेह अथवा भ्रम का और भी अच्छी तरह निरसन हो सके।

(१) ‘पूजासार’ के श्लोक नं. १६ में जिनेन्द्रदेव की पूजा करनेवाले के दो भेद वर्णन किये हैं- एक नित्य पूजन करनेवाला, जिसको ‘पूजक’ कहते हैं और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको ‘पूजकाचार्य’ कहते हैं। इसके पश्चात् दो श्लोक में आद्य (प्रथम) भेद ‘पूजक’ का स्वरूप दिया है और उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र इन चारों ही वर्णों के मनुष्यों को पूजा करने का अधिकारी ठहराया है। यथा:-

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यःसुशीलवान् ।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥१७॥

(२) इसीप्रकार ‘धर्मसंग्रहश्रावकाचार’ के ९वें अधिकार के श्लोक नं. १४२ में श्रीजिनेन्द्रदेव की पूजा करने वाले के उपर्युक्त दोनों भेदों का कथन करने के अनंतर ही एक श्लोक में- ‘पूजक’ के स्वरूप कथन में- ब्राह्मणादिक चारों वर्णों के मनुष्यों को पूजा करने का अधिकारी बतलाया है। वह श्लोक यह है-

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः ।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥१४३॥

और इसी ९वें अधिकार के श्लोक नं. २२५ में ब्राह्मणों के पूजन करना, पूजन कराना, पढ़ना, पढ़ाना, दान देना और दान लेना, ऐसे छह कर्म वर्णन करके उससे अगले श्लोक में “यजनाध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः” इस वचन से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के पूजन करना, पढ़ना और दान देना, ऐसे तीन कर्म वर्णन किये हैं।

इन दोनों शास्त्रों के प्रमाणों से भली-भांति प्रकट है कि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के मनुष्य जैनधर्म को धारण करके जैनी हो सकते हैं। तब ही तो वे श्रीजिनेन्द्रदेव की पूजा करने के अधिकारी वर्णन किये गये हैं।

(३) ‘सागारधर्माभूत’ में पं. आशाधर जी ने लिखा है कि:-

शूद्रोप्युपस्काराचारवपुः शुध्याऽस्तु तादृशः ।^३
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥
(अ.२ श्लोक २२)

अर्थात्- आसन और बर्तन वगैरह जिसके शुद्ध हो, मांस और मंदिरा आदि के त्याग से जिसका आचरण पवित्र

हो और नित्य स्नान आदि के करने से जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णों के सदृश श्रावक धर्म का पालन करने के योग्य है। क्योंकि जाति से हीन आत्मा भी कालादिक लब्धि को पाकर जैनधर्म का अधिकारी होता है।

इसीतरह श्रीसोमदेव आचार्य ने भी, 'नीतिवाक्यामृत' के नीचे लिखे वाक्य में, उपर्युक्त तीनों शुद्धियों के होने से शूद्रों को धर्मसाधन के योग्य बतलाया है:-

“आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीर शुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान्।”

(४) रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामि समन्तभद्राचार्य लिखते हैं कि:-

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।

देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८ ॥

अर्थात्- सम्यग्दर्शन से युक्त- जैनधर्म के श्रद्धानी-चांडाल पुत्र को भी गणधरादि देवों ने 'देव' कहा है- 'आराध्य' बतलाया है- उसकी दशा-उस अंगार के सदृश है जो बाह्य में भस्म से आच्छादित होने पर भी अंतरङ्ग में तेज तथा प्रकाश को लिये हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता।

इससे चांडाल का जैनी बन सकना भली-भांति प्रकट ही नहीं किंतु अभिमत जान पड़ता है। इसके सिवाय, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो चौथे गुणस्थान में ही हो जाती है, चांडाल इससे भी ऊपर जा सकता है और श्रावक के व्रत धारण कर सकता है; इसमें किसी को भी आपत्ति नहीं है। रविषेणाचार्य ने तो 'पद्मपुराण' में ऐसे व्रती चाण्डाल को 'ब्राह्मण' का दर्जा प्रदान किया है और लिखा है कि कोई भी जाति बुरी अथवा तिरस्कार के योग्य नहीं है- सभी गुणधर्म की अधिकारिणी हैं। यथा:-

न जातिर्गहिता काचिद्गुणाःकल्याणकारणम्।

व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११-२०३ ॥

(५) सोमसेन के त्रैवर्णिकाचार में भी एक पुरातन श्लोक निम्नप्रकार से पाया जाता है:-

विप्रक्षत्रियविद्शूद्रः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।

जैनधर्म पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥

(अ.७ श्लोक १४२)

इसमें लिखा है कि- 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपने-अपने नियत कर्म-विशेष की

अपेक्षा से कहे गये हैं, जैनधर्म को पालन करने में इन चारों वर्णों के मनुष्य परम समर्थ हैं और उसे पालन करते हुए वे सब आपस में भाई-भाई के समान हैं।'

इन सब प्रमाणों से सिद्धांत की अपेक्षा, प्रवृत्ति की अपेक्षा, और शास्त्राधार की अपेक्षा सब प्रकार से यह बात कि, प्रत्येक मनुष्य जैनधर्म को धारण कर सकता है, कितनी स्पष्ट और साफ तौर पर सिद्ध है, इसका अनुमान हमारे पाठक स्वयं कर सकते हैं और मालूम कर सकते हैं कि वर्तमान जैनियों की यह कितनी भारी गलती और बेसमझी है जो केवल अपने आपको ही जैनधर्म का मौरूसी हकदार समझ बैठे हैं।

अफसोस! जिनके पूज्य पुरुषों, तीर्थकरों और ऋषि-मुनियों आदि का तो इस धर्म के विषय में यह ख्याल और यह कोशिश थी कि कोई जीव भी इस धर्म से वंचित न रहे- यथासाध्य प्रत्येक जीव को इस धर्म में लगाकर उसका हित साधन करना चाहिये, उन्हीं जैनियों की आज यह हालत है कि, वे कंजूस और कृपण की तरह जैनधर्म को छिपाते फिरते हैं। न आप इस धर्मरत्न से लाभ उठाते हैं और न दूसरों को ही लाभ उठाने देते हैं। इससे मालूम होता है कि, आजकल के जैनी बहुत ही तंगदिल (संकीर्णहृदय) हैं और इसी तंगदिली ने उन पर संगदिली (पाषाणहृदयता) की घटा छा रक्खी है। खुदगर्जी (स्वार्थपरता) का उनके चारों तरफ राज्य है। यही कारण है कि वे दूसरों का उपकार करना नहीं चाहते और न किसी को जैनधर्म का श्रद्धानी बनाने की कोई खास चेष्टा ही करते हैं। उनकी तरफ से कोई डूबो या तिरो, उनको इससे कुछ प्रयोजन नहीं। अपने भाईयों की इस अवस्था को देख कर बड़ा ही दुःख होता है।

प्यारे जैनियों! आप उन वीरपुरुषों की संतान हो, जिन्होंने स्वार्थ-बुद्धि को कभी अपने पास तक फटकने नहीं दिया, पौरुषहीनता और भीरुता का कभी स्वप्न में भी जिनको दर्शन नहीं हुआ, जिनके विचार बड़े ही विशुद्ध, गंभीर तथा हृदय विस्तीर्ण थे और जो संसार भर के सच्चे शुभचिंतक तथा सब जीवों का हित साधन करने में ही अपने को कृतार्थ समझने वाले थे। आप उन्हीं की वंशपरम्परा में उत्पन्न हैं जिनका सारा मनोबल, वचनबल, बुद्धिबल और कायबल निरंतर परोपकार में ही लगा रहता था, धार्मिक जोश से जिनका मुखमंडल (चेहरा) सदा

दमकता था, जो अपनी आत्मा के समान दूसरे जीवों की रक्षा करते थे और इस संसार को समझकर निरंतर अपना तथा दूसरे जीवों का कल्याण करने में ही लगे रहते थे; और ऐसे ही पूज्य पुरुषों का आप अपने आपको अनुयायी तथा उपासक भी बतलाते हैं जो ज्ञान-विज्ञान के पूर्ण स्वामी थे, जिनकी सभा में पशु-पक्षी तक भी उपदेश सुनने के लिए आते थे, जिन्होंने जैनधर्म धारण कराकर करोड़ों जीवों का उद्धार किया था और भिन्न धर्मावलंबियों पर जैनियों के अहिंसा धर्म की छाप जमाई थी। इसलिए आप ही जरा विचार कीजिये कि क्या अपनी ऐसी हालत बनाना और दूसरों का उपकार करने से इस प्रकार हाथ खींच लेना अथवा जी चुराना आपके लिए उचित और योग्य है? कदापि नहीं।

प्यारे धर्म बंधुओं! हमें अपनी इस हालत पर बहुत ही लज्जित तथा शोकित होना चाहिये। हमारी इस लापरवाही (उदासीनता) और खामोशी (मौनवृत्ति) से जैनजाति को बड़ा भारी धक्का और धब्बा लग रहा है। हमने अपने पूज्य पुरुषों-ऋषिमुनियों के नाम को बट्टा लगा रखा है। यह सब हमारी स्वार्थपरता, निष्पौरुषता, संकीर्णहृदयता और विपरीत बुद्धि का परिणाम है। इसका सारा कलङ्क हमारे ही ऊपर है। वास्तव में हम बड़े भारी अपराधी हैं। जब हम अपनी आँखों के सामने इस बात को देख रहे हैं कि अज्ञान से अंधे प्राणी बिल्कुल बेसुध हुए मिथ्यात्वरूपी कुँए के सन्मुख जा रहे हैं और उसमें गिर रहे हैं, और फिर भी हम मौनावलम्बी हुए चुपचाप बैठे हैं- न उन बेचारों को उस कुँए से सूचित करते हैं, न कुँए में गिरने से बचाते हैं और न कुँए में गिरे हुए को निकालने का प्रयत्न करते हैं, तो इससे अधिक और क्या अपराध हो सकता है? अब हमको इस कलङ्क और अपराध से मुक्त होने के लिए अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिए।

सबसे प्रथम हमें अपने में से इन स्वार्थपरता आदिक दोषों को निकाल डालना चाहिए। फिर उत्साह की कटि बांधकर और परोपकार को ही अपना मुख्य धर्म संकल्प करके अपने पूज्य पुरुषों अथवा ऋषि-मुनियों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और दूसरे जीवों पर दया करके उनको मिथ्यात्वरूपी अंधकार से निकाल कर जिनवाणी के प्रकाशरूप जैनधर्म की शरण में लाना चाहिए। यही हमारा इससमय मुख्य कर्तव्य है और इसी कर्तव्य को पूरा

करने से हम उपर्युक्त कलङ्क से विमुक्त हो सकते हैं। अथवा यों कहियें की अपने मस्तक पर जो कालिमा का टीका लगा हुआ है उसको दूर कर सकते हैं। हमको चाहिये कि, अपने इस कर्तव्य का पालन करने में अब कुछ भी विलंब न करें। क्योंकि इस वक्त काल की गति जैनियों के अनुकूल है। अब वह समय नहीं रहा कि, जब अन्यायी और निष्ठुर राजा तथा बादशाहों के अन्याय और अत्याचारों के कारण जैनी अपने को जैनी कहते हुए डरते थे और अपने धर्म तथा शास्त्रों को छिपाने के लिए बाध्य होते थे। अब वह समय आ गया है कि, लोगों की प्रवृत्ति सत्यता की खोज और निष्पक्षपातता की ओर होती जा रही है। इसलिए जैनियों के लिए यह समय बड़ा ही अमूल्य है। ऐसे अवसर पर अवश्य अपने धर्मरत्न का प्रकाश सर्वसाधारण में फैलाना चाहिए। सर्वमनुष्यों पर जैनधर्म के सिद्धांत और उनका महत्त्व प्रगट करना चाहिए और उनको बतलाना चाहिए कि कैसे जैनधर्म ही सभी चीजों का कल्याण कर सकता है और उनको वास्तविक सुख की प्राप्ति करा सकता है। इससमय हमारे भाईयों को सिर्फ थोड़ी सी हिम्मत और परोपकार बुद्धि की जरूरत है। बाकी यह खूबी खुद जैनधर्म में मौजूद है कि, वह दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेवे। परंतु दूसरों को इस धर्म से परिचय और जानकारी कराना मुख्य है और जैनियों का कर्तव्य है।

अतः प्यारे जैनियों! आप कुछ भी न घबराते हुए इस धर्मरत्न को हाथ में लेकर चौड़े मैदान में खड़े हो जाइये और जौहरियों से पुकार कर कहिये कि, वे आकर इस रत्न की परीक्षा करें। फिर आप देखेंगी की कितने धर्मजौहरी इस धर्मरत्न को देखकर मोहित होते हैं और किस पर अपना जीवन अर्पण करने के लिए उद्यमी नजर आते हैं। अभी हाल में कुछ लोगों के कानों तक इस धर्म का शुभ समाचार पहुँचा ही था कि, वे तुरंत मन-वचन-काय से इसके अनुयायी और भक्त बन गये हैं। इसलिए मेरा बार-बार यही कहना है कि, कोई भी मनुष्य इस पवित्र धर्म से वंचित न रक्खा जावे, किसी न किसी प्रकार से प्रत्येक मनुष्य के कानों तक इस धर्म की आवाज (पुकार) पहुँच जानी चाहिए और इस बात का कभी दिल में ख्याल भी न लाना चाहिए कि अमुक मनुष्य इस धर्म को धारण करने के अयोग्य है अथवा इस धर्म का पात्र ही नहीं है। क्योंकि यह धर्म प्राणी मात्र का धर्म है। यदि

कोई मनुष्य पूरी तौर पर इस धर्म का पालन नहीं कर सकता तो भी थोड़ा बहुत पालन कर सकता है। कम से कम यदि उसका श्रद्धान ही ठीक हो जायेगा तो उससे बहुत काम निकल जायेगा और वह फिर धीरे-धीरे यथावत् आचरण करने में भी समर्थ हो जायेगा। इसीलिए शायद सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक' में लिखा है कि-

“नवैः संदिग्धनिर्वाहं विदध्याद् गणवर्धनम्।”

अर्थात्- ऐसे ऐसे नए मनुष्यों से भी अपने समाज की समूहवृद्धि करनी चाहिये जो संदिग्ध निर्वाह हैं- जिनके विषय में यह संदेह है कि वे समाज के आचार-विचार का यथेष्ट पालन कर सकेंगे।

दूसरे नीति का यह वाक्य है कि 'अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः' अर्थात् कोई भी मनुष्य स्वभाव से अयोग्य नहीं है। परंतु किसी मनुष्य को योग्यता की ओर लगाना या किसी की योग्यता से काम लेना यही कठिन कार्य है और इसी पर दूसरे मनुष्य की योग्यता की परीक्षा निर्भर है। इसलिये यदि हम किसी मनुष्य को जैनधर्म धारण न करावें या किसी मनुष्य को जैनधर्म का श्रद्धानी न बना सकें, तो समझना चाहिये कि यह हमारी ही अयोग्यता है। इसमें उस मनुष्य का कोई दोष नहीं है और न इसमें जैनधर्म का ही कोई अपराध हो सकता है। इसलिये इस कच्चे विचार और बालख्याल को बिल्कुल हृदय से निकाल कर फेंक देना चाहिये कि, अमुक मनुष्य को तो जैनधर्म बतलाया जावे और अमुक को नहीं। प्रत्येक मनुष्य को जैनधर्म बतलाना चाहिये और जैनधर्म श्रद्धानी बनाना चाहिये। क्योंकि यह धर्म प्राणी मात्र का धर्म है- किसी खास जाति या देश से संबद्ध (बँधा हुआ) नहीं है।

यहाँ पर सब प्रकार के मनुष्यों को जैनधर्म का श्रद्धानी अथवा जैनी बनाने से हमारे किसी भी भाई को यह समझकर भयभीत न होना चाहिये कि, ऐसा होने से सबका खाना पीना एकदम एक हो जावेगा। खाना-पीना और बात है- वह अधिकांश में अपने ऐच्छिक व्यवहार पर निर्भर है, लाजिमी नहीं-और धर्म दूसरी वस्तु है। दूसरे लोगों को जैनधर्म में दीक्षित करने के लिये हमें प्रायः उसी सनातन मार्ग पर चलना होगा जिस पर हमारे पूज्य पूर्वज और आचार्य महानुभाव चलते आए हैं और जिसका उल्लेख आदिपुराणादि आर्ष ग्रन्थों में पाया जाता है।¹⁶ हमारे लिये पहले ही से सब प्रकार की सुगमताओं का मार्ग खुला हुआ

है। उसके लिये व्यर्थ अधिक चिंता करने अथवा कष्ट उठाने की जरूरत नहीं है। अतः हमको बिल्कुल निर्भय होकर, साहस और धैर्य के साथ, सब मनुष्यों में जैनधर्म का प्रचार करना चाहिये। सबसे पहले लोगों का श्रद्धान ठीक करना और फिर उनका आचरण सुधारना चाहिये। जैनी बनने और बनाने के लिए इन्हीं दो बातों की खास जरूरत है। इनके बाद समाजिक व्यवहार है, जो देश काल की परिस्थितियों- आवश्यकताओं-और परस्पर प्रेममय सद्गति आदि पर विशेष आधार रखता है। उसके लिए कोई एक नियम नहीं हो सकता। वह जितना ही निर्दोष, दृढ़ तथा प्रेममूलक होगा उतना ही समाज और उसके धर्म स्थिति लिये उपयोगी तथा हितकारी होगा।¹⁷

सन्दर्भ

- जैसा कि 'लब्धिसार' की टीका के निम्न अंश से प्रकट है-
“म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथंभवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसंबंधानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भभूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथा जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्।”
(गाथा न. १९३)
- हरिवंशपुराण के उल्लेखों के लिये दिखो पं. दौलतरामजी द्वारा अनुवादित भाषा हरिवंशपुराण अथवा जिनसेनाचार्य कृत मूलग्रंथ।
- इस पद्यसे पहले स्वोपज्ञ टीका में यह प्रतिज्ञावाक्य भी दिया है-
“अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्म-क्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह-”
- आदिपुराण में तो म्लेच्छों तक को कुलशुद्धि आदि के द्वारा अपने बना लेने की- उन्हें क्रमशः अपनी जाति में शामिल कर लेने की- व्यवस्था की गई है। जैसा उसके निम्न वाक्य से प्रकट है-
स्वदेशे ऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥
(पर्व ४२ वीं)
- कुछ वर्ष पहले लिखे लेख की संशोधित, परिवर्तित और परिवर्द्धित नई आवृत्ति, जो जैनमित्रमण्डल देहली के अनुरोध पर तैयार की गई।
'अनेकान्त' वर्ष १/किरण ५ से साभार

विरोध अकालमरण का, पोषण नियतिवाद का

स्व. पं. श्यामसुन्दरलाल जी शास्त्री

'अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा' अज्ञान से अथवा प्रमाद से जिनागम के विरुद्ध बोला जाना, लिखा जाना कदाचित् अल्प पापबंध या अबंध का कारण हो सकता है किंतु यदि अहंमन्यता या पंडितमन्यता के कारण यह प्रक्रिया अपनायी जाती है तो यह अवश्य ही तीव्रातितीव्र अशुभ कर्मबंध का कारण हो जाती है और घोर श्रुतावर्णवाद के कारण दर्शनमोहनीय का, जो अनन्त संसार का कारण है, ससम्मान आमंत्रण हो जाता है।

साधारणतया देखा जाता है कतिपय सज्जन पन्थव्यामोह, खेमाबंदी अथवा स्वल्पकालिक आर्थिक लाभ या ख्यातिलाभ के कारण जनसाधारण में आगमविरुद्ध बोलने में संकोच नहीं करते और अपने खेमे के पत्रों में यथार्थता के विपरीत कुयुक्तियों से लच्छेदार भाषा में अपना अनागमिक पक्ष सिद्ध करते रहते हैं। साधारण या स्वल्पज्ञानी लोग तात्कालिक प्रभाव में बह जाते हैं। जिसे अपना माथा लगाने का समय नहीं, माथा लगाना आता नहीं, अथवा बुद्धि होते हुए भी, उसे व्यक्त करने का तरीका नहीं है और साहस भी नहीं है वह ऐसे अनागमिक-सुविधापूर्ण मार्ग का पथिक बन जाता है।

सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्यप्रवर नेमिचन्द्र की निम्न-लिखित दो गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं-

सम्माइट्टी जीवो उवइट्टुं पवयणं तु सहहदि ।
सहहदि असम्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥
सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सहहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्टी जीवो तदो पट्टुदी ॥२८॥
गो.जी.कां ॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव जिनोपदिष्ट तत्त्व का श्रद्धान करता है। कदाचित् गुरु के अन्यथोपदेश से या अज्ञानतावश अन्यथा श्रद्धान भी कर बैठता है वहाँ तक उसके सम्यक्त्व का विनाश नहीं होता है किंतु यदि कोई वस्तुतः तत्त्ववेत्ता उसे आगम से यथार्थता का परिज्ञान कराता है फिर भी वह अपनी अयथार्थता को बदलता नहीं, तो उसीसमय से वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

ये दो गाथायें उन भ्रमित भाईयों को अमृततुल्य हैं, जिन्होंने किसी प्रकार की चकाचौंध में गृहीतमिथ्यात्व अङ्गीकृत कर लिया है और अपना तत्त्वश्रद्धान भगवान्

कुन्दकुन्द की दुहाई के साथ-साथ मिलावट से प्रदूषित कर लिया है। इस प्रसंग में आचार्यश्री की यह गाथा कितनी वस्तुपरक है-

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिहिट्ठं ।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छाइट्टि मुणेयव्वो ॥३८॥ भ.आ. ॥

जिनवाणी का विपुल ज्ञानी भी यदि भगवत्-जिनोक्त एक पद या अक्षर को भी अप्रामाणिक मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

विगत कुछ वर्षों से अकालमृत्यु या अकालमरण को लेकर यथार्थता से बहुत दूर जो वातावरण निर्मित हुआ है वह सर्वथा आगमविरुद्ध तो है ही, निष्क्रियता का जन्मदाता, नियतिवाद का पोषक, आत्मकल्याण का विनाशक और मुमुक्षुता की गंध से भी बहुत दूर है।

अकालमरण:- अकाल + मरण शब्द इन दो शब्दों का संयोगी शब्द है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में 'स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणव-शात्संक्षयो मरणं,' अर्थात् अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन-वचन-काय इन तीनों बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है यह मरण शब्द की व्याख्या है। इन्द्रियों और बलों का सद्भाव या अभाव निश्चित रूप से आयु के सद्भाव और अभाव पर निर्भर करता है और इसलिए ध्वलाकर ने पुस्तक १३ में 'आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात्' आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना है। 'अनुभूयमानायुःसंज्ञक पुद्गलगलनं मरणं' इसप्रकार आयुकर्म के विनाश को ही सभी आचार्यों ने मरण की संज्ञा प्रदान की है। जिसप्रकार ज्ञानावरणीय आदि सातकर्म प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार बंधयुक्त हैं उसीप्रकार यह आयुकर्म भी चारों बंधयुक्त है। जिसप्रकार अन्य कर्मों की स्थिति नियत है उसी प्रकार इस आयुकर्म की स्थिति नियत है। जिस भव में बध्यमान आयु जिन परिणामों से जिस परिमाण में बाँधी गई है उस भव में उन परिणामों के परिणमनवशात् अग्रिम भव की आयु की स्थिति घट भी सकती है, बढ़ भी सकती है। महाराज श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में मृतसर्प को डालकर ३३ सागर की उत्कृष्ट नरकायु का बंध किया था, पश्चात् भगवान् वीर प्रभु के चरण सान्निध्य में शुभ

परिणामों से उस स्थिति का ह्रासकर मात्र चौरासी हजार वर्ष नरकायु रह गई थी। उसीप्रकार प्रथम स्वर्ग की २ सागर की उत्कृष्ट आयुबंध करनेवाला जीव सम्यग्दर्शन की विशुद्धि या विशिष्ट संयम के बल से कुछ अधिक सागर की स्थिति ले जाकर प्रथम स्वर्ग में भोग करता है। यह क्रम बारहवें स्वर्ग तक है।

देव नारकियों की जितनी आयु-बंध की स्थिति होती है उतनी नियम से भोगते हैं। उसीप्रकार तद्भव मोक्षगामी एवं भोगभूमियाँ जीव भी पूरी आयु का भोग करते हैं। महान् सूत्रकार उमास्वामी का यह कथन- "औपपादिकचरमोत्तम-देहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" अटल और अनपवाद युक्त है। शेष जीव मनुष्य या तिर्यच जितनी बध्यमान आयु लेकर चलते हैं उतनी पूरी का भी भोग करते हैं और बीच में कारणवशात् मरण भी कर जाते हैं। इसी का नाम अकालमरण है जैसा कि युगप्रवर्तक भगवान् कुन्दकुन्द ने भावपाहुड़ में स्पष्ट किया है-

"विष खा लेने से, वेदना से, रक्त का क्षय हो जाने से, तीव्र भय से, शस्त्राघात से, संक्लेश की अधिकता से, आहार और श्वासोच्छ्वास के रुक जाने से आयु का क्षय हो जाता है।"

ध्वलाकार ने पुस्तक १४ में किसी-किसी क्षुद्रभवधारी सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव तक को भी कदलीघात (अकाल) मरण वाला निरुपित किया है महान् तार्किकविभूति आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा सम्यग्दर्शन की महिमा में लिखा श्लोक ध्यान देने योग्य है-

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यक्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि।

दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥

अविरत शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भी नरक (प्रथम रहित), तिर्यञ्चगति, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अपमृत्यु-अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते हैं।

राजवार्तिक में भगवान् अकलङ्कदेव की तर्कयुक्त देशना यहाँ कितनी प्रासंगिक है-

"अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्त्याभाव इति चेन्न, दृष्टत्वादाप्रफलादिवत्। यथा अवधारितपाककालात्प्राक् सोपायोप्रक्रमे सत्याप्रफलादीनां दृष्टः पाकः तथा परिच्छिन्न-मरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः" अर्थात्-अप्राप्तकाल में मरण की उपलब्धि न होने से आयु के अपवर्तन (विनाश) का अभाव है? नहीं। जैसे पुआल आदि के संयोग से आम आदि को समय से पूर्व ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरणकाल से पहले भी उदीरणा

के कारणों से आयु का क्षय हो जाता है।

कहाँ तक लिखा जाय उक्त कथन का सुप्रसिद्ध जैनागम श्लोकवार्तिक, ध्वला, भगवती आराधना आदि ग्रंथों में विशद वर्णन-समर्थन मिलता है। स्वामी अकलङ्कदेव अपनी सशक्त वाणी में कहते हैं-

अकाल मृत्यु के निवारण के लिए ही आयुर्वेद और रसायन-शास्त्रों का सृजन किया गया है।

सारांश यह है कि नियमतः जो कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यञ्च अपने पूर्व भवान्त में आयुर्कर्म की जितनी स्थिति वाले निषेक साथ में लाये हैं उतनी स्थिति तक उनका उपभोग करते हैं किन्तु विपरीत कारणों के, जिन में कुछ का उल्लेख ऊपर (विष आदि) किया गया है, मिलने पर आयुर्कर्म के निषेक पूर्ण स्थिति से पूर्व झड़ जाते हैं (घड़ी की चाबी की भांति)। जिसप्रकार अन्य कर्मों की उदीरणा का आगम में वर्णन है उसीप्रकार (देव, नारकी आदि अपवाद छोड़कर) आयुर्कर्म की भी उदीरणा हो जाती है। पं. दौलतराम जी का स्वर्णिम छन्द है-

निज काल पाय विधि झरना तासौं निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै सो ही शिवसुख दरसावै ॥ ५ ॥

११ ॥ छह. ॥

अपमृत्यु अनेकानेक जीवों की होती है। नारायण कृष्ण, सुभौम एवं ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीद्वय एवं अनेक अर्धचक्री राजाओं की भी मृत्यु का उल्लेख अकालमृत्यु के रूप में पुराणशास्त्रों में पाया जाता है। सामान्य मनुष्य और तिर्यचों की अकालमृत्यु तो आज साधारण बात हो गई है। जिनकी सकालता या अकालता हमारे ज्ञानगोचर नहीं है किन्तु उनके कारण अवश्य अकाल मृत्यु के भासते हैं।

इसप्रकार आगम के प्रकाश में अकालमृत्यु का होना वास्तविक तर्कसिद्ध-न्यायसंगत, कर्म-फलानुरूपी और आर्षपरम्परा से मान्य सिद्ध होता है, फिर भी हमारे कुछेक विद्वान् अपनी हठवादिता के कारण उक्त विषय में आचार्यप्रवर स्वामिकार्तिकेय की गाथा को ऊँचे स्वर में प्रमुखता देते हैं-

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को टालेदुं सक्को इंदो वा अह जिणंदो वा ॥

अर्थात्- जो जिसका जिस देश में जिसप्रकार से जिसकाल में जन्म या मरण जिनेन्द्रदेव ने नियत रूप से जाना है उसका उस देश में उसप्रकार से उसकाल में होना निश्चित है, उसे टालने में इन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी समर्थ

नहीं हैं।

आचार्य के इस सहज और साधारण कथन को आधार बनाकर इतना तूल बाँध दिया है कि परमागम जिनागम की रीढ़ श्रमण संस्कृति ही चकनाचूर होने की स्थिति में आ पहुँची है।

यहाँ विचारणीय है कि जिनेन्द्र भगवान् का ज्ञान और दर्शन अनन्त पदार्थों की अनन्त पर्यायों का ज्ञाता दृष्टा है या भगवान् के दर्शन में तीन लोक की त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें युगपत् प्रतिभासित होती हैं उन पर्यायों को भगवान् एक समय में जानते हैं उनका संचालन नहीं करते। भगवान् का ज्ञान कोई वैरोमीटर नहीं है जो बटन दबाते ही कक्षा में स्थित उपग्रह को धमाके के साथ कक्षा के बाहर कर दे, यह काम बैटरी का है, परणति पदार्थों की है। दूरबीन की नहीं, दूरबीन देखती है, पदार्थ में परिवर्तन नहीं करती। पदार्थों की व्यतीत, वर्तमान एवं अनागत अनंत पर्यायों का ज्ञान केवलज्ञानी आत्मा की परिणति अथवा पर्याय है। चित्र लेते समय कैमरा द्वारा नाक पर बैठी मक्खी का चित्र आ जाना कैमरा का कार्य है, नाक पर मक्खी का बैठा देना नहीं।

जीवन और मरण में प्रधान कारण आयु कर्म का उदय, उदीरणा और क्षय है। उस आयु कर्म की स्थिति को ही काल की संज्ञा दी गई है, केवली के ज्ञान को नहीं। स्वामिकार्तिकेय की उक्त गाथा यही स्पष्ट करती है कि सभी जीव अपनी सभी पर्यायें स्वयं संचालित करते हैं। केवली भगवान् उन्हें देखते जानते मात्र हैं, अणुमात्र भी उनमें परिवर्तन नहीं कर सकते। यदि केवली के ज्ञान से ही जीवन-मरण आदि पर्यायों को बाँध दिया जावे तो कर्म की उदीरणा अवस्था ही समाप्त हो जावेगी, तदनुरूप ही उदय-उत्कर्षण-अपकर्षण भी शब्द मात्र रह जायेंगे, कार्यकारी नहीं। फिर तो “श्राम्यति इति श्रमणः” जो आत्ममार्ग की विशुद्धि में श्रम करता है वह श्रमण है यह व्युत्पत्यर्थ मात्र रुढ़ि रह जायेगा। इस स्थिति में “तपकरि जो कर्म खिपावै” का सुसंगत सिद्धांत क्या अभिप्राय रखेगा?

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।

धर्माय-तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥

स्वामिसमंतभद्र की रत्नकरण्डश्रावकाचारगत इस अमृतमयीवाणी में शरीर छोड़ने की जिस असाधारण प्रक्रिया को अपनाने के लिए साहसी वीरों को आह्वान किया है वह किसी प्रकार तर्क संगत नहीं रहेगा। जबकि पदार्थ

में अनागत सभी पर्यायें दीवाल में ईंटों के समान क्रमबद्ध चिनी हुई होंगी वह क्रम तो टूटेगा नहीं फिर सल्लेखना-अणुव्रत-गुप्ति-समिति आदि केवल दंड-बैठक ही रह जावेंगे।

प्रायः नियतकालिक सल्लेखना धारण करनेवाले सभी वीर श्रमणराज अकालमरण को ही आमन्त्रित करते हैं। वे तिल-तिल सड़कर आयु के अंतिम निषेक और क्षण की प्रतीक्षा नहीं करते, वीरवृत्ति से भारी पुरुषार्थ द्वारा शरीर से आत्मा को निकाल कर ले जाते हैं। इस प्रक्रिया में आयु का पूर्ण उपभोग भी हो सकता है और अकालमरण भी हो सकता है, इससे कुछ लेना देना नहीं है। आत्मपुरुषार्थ की निरंतर जागरुकता में अकाल मरण हो जावे इसमें कोई दोष नहीं, दोष है दीनाशय होकर विवशता में शरीर छूट जाने में और ‘जो जो देखी वीतराग ने’ की आड़ में कोसों दूर पलायन में।

वीतराग प्रभु ने जो देखा है वह अवश्य ही होगा। यादवकुल चन्द्रमा नेमिप्रभु द्वारा द्वारावती दाह की भविष्य-वाणी सुनकर प्रद्युम्नकुमार-शंबुकुमार आदि शतशः सहस्रशः दिगम्बरी दीक्षा धारण कर गये, अनेक द्वारिका छोड़ गये, एक ऐसे भी थे जो भगवान् की वाणी को चुनौती देने फिर द्वारिका लौट आये, अस्तु। उन्हें तो भगवान् की वाणी सुनने का साक्षात् सुअवसर मिला था तदनुसार अपनी-अपनी श्रद्धानुसार उन्होंने आचरण किया किंतु आज हमें तो श्रीमज्जिनेन्द्र के मुख से वाणी सुनने का अवसर ही उपलब्ध नहीं है और कोई कान में चुपके से कह भी नहीं गया है। क्यों न हम फिर चित्र का दूसरा पहलू उठाकर देखें। आर्यक्षेत्र, मनुष्यजन्म, उत्तम कुल, दिगम्बर धर्म, निर्ग्रथ साधु समागम, भव्य देशना हमें इस निकृष्ट कलिकाल में प्राप्त हुई है। अवश्य ही अगले कुछ भवों में मोक्षप्राप्ति की बलवती सम्भावना है, सम्पेदशिखर तीर्थराज की वंदना अधिक से अधिक ४१ भवों का संकेत है। यदि समाधिपूर्वक मरण हो जावे तो ७-८ भवों में ही परिगमन का वीजा प्राप्त समझिये। इसप्रकार अनुलोम विचार व चिंतन की ओर क्यों नहीं बढ़ते। यदि प्रतिलोम विचार व चिन्तन है तो अवश्य ही किसी कंपा देने वाले पारिणामिक भाव के द्योतक हैं। मृत्यु सकाल होवे या अकाल होवे इससे कोई वास्ता नहीं-कोई चिंता नहीं, वीतराग प्रभु से एक ही प्रार्थना है कि वह समाधिपूर्वक होवे।

वात्सल्यरत्नाकर (तृतीय खण्ड) से साभार

अदर्शन-परीषह-जय

डॉ. रमेशचन्द्र जैन

क्षुधादिवेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उस वेदना को सह लेना, परीषह का जीतना परिषह-जय है। अन्तिम परिषह अदर्शन परिषह है। इसका लक्षण बतलाते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि परम वैराग्य की भावना से मेरा हृदय शुद्ध है, मैंने समस्त पदार्थों के रहस्य को जान लिया है, मैं अरहन्त, आयतन, साधु और धर्म का उपासक हूँ, चिरकाल से मैं प्रव्रजित हूँ, तो भी मेरे अभी तक भी ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ है। महोपवास आदि का अनुष्ठान करनेवालों के प्रतिहार्य विशेष उत्पन्न हुए, यह सब प्रलाप मात्र है, यह प्रव्रज्या अनर्थक है, व्रतों का पालन निरर्थक है- इत्यादि बातों का दर्शनविशुद्धि के योग से मन में नहीं विचार करनेवाले के अदर्शन-परीषह-जय जानना चाहिए। दर्शनमोह के सद्भाव में अदर्शन परिषह होती है। इसकी व्याख्या करते हुए सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री ने कहा है- दर्शनमोह से यहाँ सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति ली गयी है। इसका उदय रहते हुए, चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं। सम्यक्त्व के रहते हुए भी आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में नाना विकल्प होना 'चल' दोष है। जिसप्रकार जल के स्वच्छ होते हुए भी उसमें वायु के निमित्त से तरङ्ग माला उठा करती है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष यद्यपि अनेक स्वरूप में स्थिर रहता है तथापि सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से आप्त, आगम और पदार्थ के विषय में उसकी बुद्धि चलायमान होती रहती है यही चल दोष है। मल का अर्थ मैल है। शङ्कादि दोषों के निमित्त से सम्यग्दर्शन का मलिन होना मल दोष है, यह भी सम्यक्त्वमोहनीय के उदय में होता है तथा अगाढ़ का अर्थ है- स्थिर न रहना। सम्यग्दृष्टि जीव लौकिक प्रयोजन वश कदाचित् तत्त्व से चलायमान होने लगता है। उदाहरणार्थ, अन्य अन्य का कर्ता नहीं होता, यह सिद्धान्त है और सम्यग्दृष्टि इसे भली प्रकार जानता है, पर रागवश वह इस सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह पाता। वह पारमार्थिक कार्य को भी लौकिक प्रयोजन का प्रयोजक मान बैठता है। इसप्रकार सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से ये तीन दोष होते हैं। ये तीनों एक हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय की दृष्टि से यहाँ इन्हें पृथक्-पृथक् परिगणित किया है। यहाँ इसी दोष को ध्यान में रखकर अदर्शन परीषह का निर्देश किया है कि यह

दर्शनमोहनीय के उदय से होता है, इसलिए इसे दर्शनमोहनीय का कार्य कहा है। भोजनादि पदार्थों के न प्राप्त होने से अलाभ को लाभान्तराय कर्म का कार्य कहा है। पर के लाभ को स्व का लाभ मानना मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय का कार्य है। इसलिए यहाँ इसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ तो अलाभ परिणाम किसके उदय में होता है, इसका ही विचार किया गया है। इसप्रकार अदर्शनभाव मोहनीय कर्म का और अलाभभाव लाभान्तराय कर्म का कार्य है। यह निश्चित होता है।

यहाँ विशिष्ट कारण दर्शनमोह को कहा गया है। अतः यहाँ अवधिदर्शन आदि विषयक सन्देह नहीं रहता है। यद्यपि दर्शन के श्रद्धान और आलोचन ये दो अर्थ होते हैं। पर यहाँ मति आदि पाँच ज्ञानों के अव्यभिचारी श्रद्धानरूप दर्शन का ग्रहण है। अलोचनरूप दर्शन श्रुत और मनःपर्यय ज्ञानों में नहीं होता अतः उसका ग्रहण नहीं है। यद्यपि अवधिदर्शन आदि के उत्पन्न होने पर भी 'इसमें वे गुण नहीं हैं' आदि रूप से अवधिदर्शन आदि सम्बन्धी परीषह हो सकते हैं, पर वस्तुतः ये दर्शन अपने-अपने ज्ञानों के सहचारी हैं, अतः अज्ञान परीषह में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश के अभाव में प्रताप नहीं होता, उसी तरह अवधिज्ञान के अभाव में अवधिदर्शन नहीं होता। अतः अज्ञानपरीषह में ही उन-उन अवधिदर्शन भाव आदि परीषहों का अन्तर्भाव है। इसीप्रकार श्रद्धानरूप दर्शन को ज्ञानाविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञा-परीषह में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि कभी-कभी प्रज्ञा के होने पर भी तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव देखा जाता है, अतः व्यभिचारी है।

दर्शनमोह के तीन भेद हैं-१. सम्यक्त्व, २. मिथ्यात्व और ३. तदुभय। दर्शनमोह बन्ध की अपेक्षा एक होकर भी सत्कर्म की अपेक्षा तीन प्रकार का है। इन तीनों में से जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरुत्सुक तथा हिताहित का विचार करने में असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है। वही मिथ्यात्व जब शुद्ध परिणामों के कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है और उदासीन रूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है, तब सम्यक्त्व है। इसका वेदन करनेवाला

पुरुष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीण मदशक्तिवाले कोदों के समान अर्द्धशुद्ध स्वरस वाला होने पर तदुभय कहा जाता है। इसी का दूसरा नाम सम्यग्मिथ्यात्व है। इसके उदय से अर्द्धशुद्ध मदशक्तिवाले कोदों और ओदन से प्राप्त हुए मिश्र परिणाम के समान उभयात्मक परिणाम होता है।

दर्शनमोहरूप जीव की अवस्था का वर्णन टोडरमल जी ने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। उनके कथनानुसार दर्शनमोह के उदय से जो मिथ्यात्वभाव होता है, उससे यह जीव अन्यथा प्रतीति रूप अतत्त्व श्रद्धान करता है। जैसा है वैसा तो नहीं मानता और जैसा नहीं है, वैसा मानता है। अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी अनादिनिधन वस्तु आप है और मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादिकों से रहित, जिनका नवीन संयोग हुआ, ऐसे पुद्गलादि पर हैं, इनके संयोग रूप नाना प्रकार की मनुष्य तिर्यञ्चादिक पर्यायें होती हैं- उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण करता है, स्व-पर का भेद नहीं कर सकता। जो पर्याय प्राप्त करे, उस ही को आप रूप मानता है। उस पर्याय में जो ज्ञानादिक हैं वे तो अपने गुण हैं और रागादिक हैं वे अपने कर्मनिमित्त से औपाधिक भाव हुए हैं तथा वर्णादिक हैं वे शरीरादिक पुद्गल के गुण हैं और शरीरादिक में वर्णादिकों का तथा परमाणुओं का नाना प्रकार पलटना होता है, वह पुद्गल की अवस्था है। वह इन सबको ही अपना स्वरूप मानता है, स्वभाव का विवेक नहीं हो पाता। मनुष्यादि पर्यायों में धन, कुटुम्ब आदि का सम्बन्ध होता है, वे प्रत्यक्ष अपने से भिन्न हैं तथा वे अपने अधीन नहीं परिणमित होते, तथापि उनमें ममकार करता है कि ये मेरे हैं, वास्तव में वे किसी प्रकार अपने नहीं होते हैं। (मोही जीव) मनुष्यादि पर्यायों में कदाचित् देवादि की या तत्त्वों की अन्यथा स्वरूप जो कल्पित क्रिया है, उसकी प्रतीति तो करता है, परन्तु यथार्थ स्वरूप जैसा है, वैसी प्रतीति नहीं करता। इसप्रकार दर्शनमोह के उदय से जीव को अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्याभाव होता है। जहाँ तीव्र उदय होता है, वहाँ सत्यश्रद्धान से बहुत विपरीत श्रद्धान होता है। जब मन्द उदय होता है तो सत्यश्रद्धान से थोड़ा विपरीत श्रद्धान होता है।

आचार्य पूज्यपाद ने मोह की परिणति के विषय में कहा है-

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।

मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनक्रोद्रवैः ॥

(इष्टोपदेश/७)

अर्थात् मोह से आवृत ज्ञानवाला व्यक्ति स्वभाव को प्राप्त नहीं करता है, जिस प्रकार मदनक्रोद्रवों से मत्त हुआ व्यक्ति पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है।

दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से, जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसा भव्य जीव राग और द्वेष की निवृत्ति के लिए सम्यक्चारित्र को धारण करता है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने कहा है-

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।

रागद्वेषनिवृत्तै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार-४७)

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा उत्कृष्टपने को प्राप्त होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा जाता है।

जिसप्रकार मूलकारण बीज के न होने पर वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति नहीं होती, उसीप्रकार मोक्षमार्ग में मूलकारण सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की फलोत्पत्ति नहीं हो सकती है-

विद्यावृत्तस्य सम्भूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयः।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार-३२)

ऊपर सम्यक्त्व के मूलों में शङ्कादिक दोषों का उल्लेख किया गया है। वे पाँच हैं- १. शङ्का, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. अन्यदृष्टिसंस्तव और ५. अन्यदृष्टिप्रशंसा।

निःशङ्कितत्व आदि के प्रतिपक्षी शङ्का आदि हैं। मिथ्यादृष्टि के ज्ञान-चारित्र गुणों का मन से अभिनन्दन करना प्रशंसा है तथा वचन से विद्यमान-अविद्यमान गुणों का कथन संस्तव है।

अदर्शन परीषह सहन करने हेतु दर्शनविशुद्धि भावना का योग आवश्यक है। अकलङ्कदेव ने कहा है-

“आर्त्तरीन्द्रध्यानपरिणामसंकलेशस्तदभावो विशुद्धि-रात्मस्वात्मन्यस्थानम्” अर्थात् आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान परिणामों को संक्लेश कहते हैं और उसके अभाव को अर्थात् धर्मध्यान, शुक्लध्यान रूप परिणामों को विशुद्धि कहते हैं। उस विशुद्धि के होने पर ही आत्मा में स्थिरता होती है। आचार्य विद्यानन्द ने कहा है-

“मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव। त एव संक्लेश परिणाम इति न विरुध्यते तेषामार्त्तरीन्द्रध्यानपरिणाम-कारणत्वेन संक्लेशाङ्गत्ववचनात्।”

अर्थात् बन्ध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद,

कषाय और योग ही संक्लेश परिणाम हैं और क्योंकि वे आर्त और रौद्र ध्यानरूप परिणामों के कारण हैं, इसीलिए उन्हें संक्लेश का कारण कहा है।

जयधवला भाग ४ (पृष्ठ १४१) में वीरसेन स्वामी ने लिखा है-

“का नाम विसोही? जेसुपरिणामेसु समुप्पण्णेसु कसायाणं हाणि होदि। थिर, सुह, सुभग, साद सुस्सरादीणं सुहपयडीणं बंध च ते परिणामा विसोहीणा।”

अर्थात् जीव के जिन परिणामों के होने पर कषायों की हानि होती है स्थिर, शुभ, सुभग, साता और सुस्वर आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उन परिणामों का नाम विशुद्धि है।

सम्यग्दर्शन सहित विशुद्धि का नाम दर्शनविशुद्धि है। यह उसी के होती है, जिसकी जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग में रुचि हो।

दर्शनविशुद्धि के आठ अङ्ग हैं- इहलोक, परलोक, व्याधि, मरण, अगुप्ति, अरक्षण और आकस्मिक इन सात भयों से मुक्त रहना अथवा जिनोपदिष्ट तत्त्व में 'यह है या नहीं' इस प्रकार की शङ्का नहीं करना निःशङ्कित अङ्ग है। धर्म को धारण करके इस लोक और परलोक में विषयोपभोग की आकांक्षा नहीं करना और अन्य मिथ्यादृष्टि सम्बन्धी आकांक्षाओं का निरास करना निःकांक्षित अङ्ग

है। शरीर को अत्यन्त अशुचि मानकर उसमें शुचित्व के मिथ्यासंकल्प को छोड़ देना अथवा अर्हन्त के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में 'यह अयुक्त है, घोर कष्ट है, यह सब नहीं बनता' आदि प्रकार की अशुभ भावनाओं से चित्तविचिकित्सा नहीं करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है। बहुत प्रकार के मिथ्यानयवादियों के दर्शनों में तत्त्वबुद्धि और युक्तियुक्तता को छोड़कर मोहरहित होना अमूढदृष्टिता है। उत्तमक्षमादि धर्मभावनाओं से आत्मा की धर्मवृद्धि करना उपबृंहण है। कषायोदय आदि से धर्मभ्रष्ट होने के कारण उपस्थित होने पर भी अपने धर्म से परिच्युत नहीं होना उसका बराबर पालन करना स्थितिकरण है। जिनप्रणीत धर्माभूत से नित्य अनुराग करना वात्सल्य है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशमान करना प्रभावना है।

इस प्रकार दर्शनविशुद्धि के योग से अपने श्रद्धान को दृढ़ करना अदर्शन-परीषह-जय है। मुनि को इसे अवश्य ही धारण करना चाहिए।

मैं चिरकाल घोर तप कीना अजहूं ऋद्धि अतिशय नहीं जागे। तप बल सिद्धि होय सब सुनियत सो कुछ बात झूठ सी लागे। यों कदापि चित में नहिं चिन्तित समकित शुद्ध शांति रस पागे। सोई साधु अदर्शन विजई ताके दर्शन से अघ भागे॥

'वात्सल्यरत्नाकर' (तृतीय खण्ड) से साभार

पर्युषण आदि पर्वों में विद्वान् हेतु संपर्क करें

जैसा कि आप सभी को विदित है कि श्री १००८ जम्बूस्वामी दि. जैन सिद्धक्षेत्र चौरासी मथुरा में ११ जुलाई २००१ में स्थापित श्रमण ज्ञान भारती संस्थान जैनधर्म की शिक्षा देकर विद्वानों को तैयार कर रही है। इस संस्थान द्वारा प्रशिक्षित विद्वान् आपके नगर एवं गाँव में पर्युषणपर्व एवं अष्टान्हिका पर्व आदि अन्य अवसरों पर प्रवचन विधि-विधान हेतु उपलब्ध हैं। यदि आप विद्वान् बुलाने के इच्छुक हैं तो निम्न पते पर संपर्क करें-

निरंजनलाल बैनाड़ा

१/२०५ प्रोफेसर्स कालोनी आगरा (उ. प्र.)

मो.- ०९९२७०९१९७०

आयुष्मान् भरत एवं आयुष्मती सुभद्रा का परिणय संपन्न

रजवांस (सागर, म.प्र.)। जैन जगत के लब्ध-प्रतिष्ठि युगल विद्वान् भ्राताद्वय पं. सनतकुमार, विनोद कुमार जैन के नाम से विख्यात प्रतिष्ठाचार्य पं. श्री विनोद कुमार जैन के यशस्वी सुपुत्र आयुष्मान् भरत कुमार शास्त्री का शुभ विवाह दिनांक १.०७.२००७ की शुभबेला में सागर निवासी सिंघई श्री सुभाष जैन की सुपुत्री सौ.कां. सुभद्रा/ रेखा जैन के साथ इष्ट मित्रों, रिश्तेदारों, शुभ चिंतकों व विद्वद्वर्ग के मध्य गरिमापूर्ण समारोह के साथ संपन्न हुआ।

सिंघई अरिहंत जैन
गुरेना

प्रस्तावों की भावना समझें

डॉ. शीतलचन्द्र जैन

उदयपुर में ४ अक्टूबर २००६ को पूज्य मुनि पुङ्गव सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में भगवती आराधना जैसे महान् ग्रन्थाधिराज पर अ० भा० विद्वत्संगोष्ठी आयोजित थी। वस्तुतः पूज्य मुनि श्री द्वारा संगोष्ठियों में चारों अनुयोगों का शोधपूर्ण मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है, वह महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक होता है। यही कारण है कि पूज्य मुनि श्री के सान्निध्य में आयोजित संगोष्ठियों में जाने के लिये विद्वान् वर्षभर से प्रतीक्षा करते हैं, और इन संगोष्ठियों में विषय का परिमार्जन तो होता ही है। साथ में अ०भा० स्तर के जैन-अजैन चिन्तनशील विद्वान् एवं शोधार्थी उपस्थित होते हैं। संगोष्ठियों का प्रतिफल है कि शास्त्रपरिषद् एवं विद्वत्परिषद् का एक मंच पर आना। जब दोनों परिषदों का संयुक्त अधिवेशन हुआ तो कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा होना स्वाभाविक है। परिणाम स्वरूप कुछ सैद्धान्तिक एवं सामाजिक प्रस्ताव समाज के सामने रखे गये जिनका कतिपय पूर्वाग्रह ग्रसित विद्वानों को छोड़कर सभी ने स्वागत एवं सराहना की।

अधिवेशन में जो प्रस्ताव रखे गये उन पर गम्भीरता से विचार विमर्श हुआ और सर्वसम्मति से पारित हुये। इन प्रस्तावों पर पूज्य मुनि श्री का कहीं भी आग्रह-दुराग्रह नहीं था बल्कि प्रथम प्रस्ताव पर पूज्य मुनि श्री का कहना था कि समाज के कुछ विद्वानों एवं श्रावकों को आपत्ति हो सकती है क्योंकि समाज में स्वाध्याय की कमी है। मुझे यह बिल्कुल भी आशा नहीं थी कि पं० हेमन्त काला जी जैसे महानुभाव वीतरागी जैनधर्म की भावना को नहीं समझ पायेंगे। आश्चर्य तो तब हुआ जब जनवरी २००७ में दिग्विजय का अङ्क पूज्य मुनि पुङ्गव सुधासागर जी महाराज की समालोचना में निकाल दिया जबकि संयुक्त अधिवेशन के प्रस्तावों से पूज्य मुनि श्री को कुछ लेना देना नहीं था। ये प्रस्ताव विद्वानों की शीर्षस्थ दो संस्थाओं द्वारा पारित हैं। उन प्रस्तावों के सम्बन्ध में मुझे पं० भरत जी काला का पत्र मिला तो मैंने तुरन्त बिना किसी दुराग्रह के दिनांक १९.२.०७ को पत्र लिखा कि यदि आपको किसी भी प्रकार की भ्रान्ति है तो बैठकर विचार करें, समाज को व्यर्थ में पंथवाद के चक्कर में डालकर भ्रमित न करें परन्तु श्री काला जी ने हमारे पत्र पर ध्यान ही नहीं दिया और

दिग्विजय के अगले अङ्कों में चुनौती चेतावनी देना प्रारम्भ कर दी जो आप जैसे महानुभाव के लिये गरिमापूर्ण नहीं है।

संयुक्त अधिवेशन में जो भी प्रस्ताव पारित हुए हैं वे श्रमण संस्कृति की वैदिक संस्कृति से पृथक् पहिचान बनाये रखने के लिये हैं। अन्यथा वर्तमान में जो क्रियायें प्रचलित हो गयीं हैं उनसे दोनों संस्कृतियों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। हम देखते हैं कि कई मुनिराजों, प्रतिष्ठाचार्यों एवं श्रावकों द्वारा वैदिक संस्कृति के अनुरूप क्रियायें करने की कृत-कारित-अनुमोदनार्थें हो रहीं हैं। जैसे कुछ उदाहरण इसप्रकार हैं।

(१) वैदिक संस्कृति में सरागी देव देवियों की पूजन विधान, अनुष्ठान प्रचलित हैं और प्रायः रात्रि में होते हैं उसी प्रकार हमारे यहाँ भी रात्रि में शासन देवी, देवताओं की पूजन, विधान, अनुष्ठान मुनिराज स्वयं बैठकर करवाने की प्रेरणा देते हैं।

(२) अनुष्ठान के पश्चात् जैसा वैदिक संस्कृति में प्रसाद वितरण होता है वैसा ही जैन अनुष्ठानों में होने लगा। इतना ही नहीं, कुछ मुनिराजों की आहारचर्या के बाद बचे हुये फल वगैरह प्रसाद में श्रावक बाटने लगे। मैंने शिखर जी में देखा कि आरती के बाद प्रसाद बाँटा जा रहा था।

(३) वैदिक परम्परा में बाला जी के दर्शन के बाद सिन्दूर का टीका लगाते हैं। यहाँ पर भी जैनमंदिरों में क्षेत्रपाल जी का सिन्दूर लेकर टीका लगाने लगे हैं।

(४) वैदिक परम्परा में नवरात्रि में विशेष अनुष्ठान होते हैं। श्रमण संस्कृति में भी कतिपय महानुभावों की प्रेरणा से गेरूवा वस्त्र पहिनकर अनुष्ठान प्रारम्भ हो गये हैं।

(५) वैदिक संस्कृति में रामायण का अखण्डपाठ और रात्रि में जागरण के साथ में जलपान, भोजन आदि होता है। वैसा ही श्रमण संस्कृति में भी प्रवेश हो रहा है।

(६) वैदिक संस्कृति में १००८ दीपकों द्वारा आरती सवामन लड्डू आदि चढ़ाना प्रचलित है। उसी तर्ज पर अपने यहाँ भी प्रारम्भ हो गया।

(७) विश्व-शान्ति महायज्ञ वैदिक संस्कृति की देन है। हमारे यहाँ भी यही अवधारणा प्रारम्भ हो गयी।

(८) वैदिक विद्वान् अनुष्ठान के बाद रक्षासूत्र

खुलवाने में दक्षिणा लेते हैं, हमारे यहाँ भी कतिपय प्रतिष्ठाचार्यों ने दक्षिणा लेना प्रारम्भ कर दिया है।

(९) इसप्रकार सन्तोषीमाता व्रत के तर्ज पर शुक्रवार को व्रत प्रारम्भ हुए हैं।

(१०) मुनिराजों द्वारा घर-घर जाकर मंगलकलश आदि की स्थापनायें कराना।

(११) वैदिक संस्कृति के साधु जिस प्रकार नारियल अंगूठी, माला, यंत्र आदि मंत्रित करके देते हैं। वैसे ही अपने यहाँ भी प्रारम्भ हो गया।

(१२) कतिपय साधु संघों में मोबाइल संस्कृति ने सभी मर्यादायें तोड़ दीं हैं।

इस प्रकार उपरोक्त कतिपय उदाहरण दिये गये हैं यदि लिखे जाये तो श्रमण संस्कृति में बहुत उदाहरण हैं जिनमें विसंगतियाँ हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। अन्यथा दोनों संस्कृतियों में भेद नहीं रह जायेगा। एक स्थान पर देखा गया कि एक ही थाली में जिनेन्द्र भगवान् और शासन देवी का अभिषेक हो रहा है। बगल में खड़ा हुआ युवक पूछ रहा है कि अपने जैनधर्म में भी राधा-कृष्ण जैसा व्यवहार होता है क्या? उसको समय नहीं था मुझे भी समय नहीं था। अपने-अपने स्थान चल दिये। हम सबको मिलकर विचारना है कि आगे आने वाली पीढ़ी को वीतराग पोषक संस्कृति का उपासक बनाना है या सरागी संस्कृति का पोषक। आज की पीढ़ी पन्थों को नहीं जानना चाहेगी अपितु अपने धर्म, दर्शन एवं संस्कृति का स्वरूप जानना चाहेगी। हमें पन्थों के नाम लेना बन्द कर देना चाहिए। यह कतिपय पण्डितों की देन है, न कि अनादि।

दिग्विजय पत्रिका का मार्च-अप्रैल का अङ्क पढ़कर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि दोनों सम्पादक महोदय (प० भरत-हेमन्त जी) विषयों पर बैठकर चर्चा नहीं करना चाहते

अपितु समाज का पर्यावरण दूषित करना चाहते हैं। इसी अङ्क में माननीय सुदर्शन कासलीवाल जी ने अनुशासित चेतावनी प्रकाशित की है। इस सम्बन्ध में निवेदन है कि आप इन प्रस्तावों की भावना को समझें और पृ. ८० पर प्रकाशित मेरे पत्र के अभिप्राय को भी ध्यान में रखें। आदरणीय प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी ने जो लिखा है कि 'उदयपुर में जो प्रस्ताव पारित हुए हैं वे केवल एक ही साधु की प्रसन्नता को ध्यान में रखकर पारित किये गये हैं।' 'उक्त बात यथार्थ जानकारी के अभाव में ही लिखी गयी है प्रस्ताव पारित करने की भावना पूर्व में लिख चुका हूँ। मैं तीनों अङ्कों का उत्तर तब लिखूँगा जब मेरे १९.२.०७ के पत्र का उत्तर मिल जायेंगा।'

अभी २५ मई ०७ के जैन गजट में बाबूलाल सेठिया नैनवा का लेख भी प्रकाशित हुआ है। इससे समाज का पर्यावरण ही दूषित होगा।

विद्वानों का ध्यान रचनात्मक कार्यों में जाना चाहिये आज भारत के विश्वविद्यालयों में जैनविभागों एवं स्थापित जैनचेयर्स को समाप्त करने का षड्यंत्र रचा जा रहा है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं जबकि विभिन्न साधु संस्थाओं द्वारा इतना साहित्य प्रकाशित हो रहा है कि पढ़ने वाले नहीं हैं। पंच कल्याणक असीमित हो रहे जबकि जैन विधा पर सार्थक संगोष्ठियाँ विश्वविद्यालयों में बिल्कुल ही नहीं हो रहीं हैं। प्रतिमायें इतनी तैयार हो रहीं हैं कि जितने भक्त तैयार नहीं हो रहे।

मेरा विनम्र अनुरोध है कि जो प्रस्ताव पारित हुए हैं वे किसी की आस्था पर चोट पहुँचाने के लिये नहीं हैं अपितु वीतराग पोषक श्रमण संस्कृति की पहिचान आगे आने वाली पीढ़ी में बनी रहे, इसका मूल उद्देश्य है।

अध्यक्ष

अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद्, जयपुर

प्रमादी त्यजति ग्रन्थं बाह्यं मुक्त्वापि नान्तरम्।

हित्वापि कञ्चुकं सर्पों गरलं न हि मुञ्चते ॥८/३१॥

(अमितगति : योगसारप्राभृत)

प्रमादी पुरुष बाह्य परिग्रह त्यागकर भी अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग नहीं करता। सर्प केंचुली छोड़ देता है, किन्तु विष नहीं छोड़ता।

किं वस्त्रत्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते।

श्वेडेन च्युतपन्नगो गतविषः किं जातवान् भूतले ॥

माल्लिषेणाचार्यकृत 'सज्जनचित्तवल्लभ'

कोई पुरुष वस्त्र त्यागने मात्र से मुनि हो जाता है? क्या साँप केवल केंचुली त्याग देने से निर्विष हो जाता है?

भगवान् महावीर की मूर्ति में परिवर्तन

टी. एस. सुव्रमनियन

किस प्रकार तमिलनाडु के गाँव में सातवीं शताब्दी की एक जैन मूर्ति, देवी अम्मा की मूर्ति बन गई

चेन्नै- तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले के अलिचर बांध के किनारे पर स्थित, पुल्लियन कंडी ग्राम में, जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की एक सुन्दर मूर्ति, हिन्दू देवी की मूर्ति के रूप में परिवर्तित की जा चुकी है। यह मूर्ति, जिस पर त्रिशूल लगाये जा चुके हैं, अब 'आदहली अम्मा' के रूप में है। ऐसा एक शोधार्थी ने पुष्ट किया है।

वह मूर्ति जो वास्तविक रूप से सातवीं शताब्दी की है, उस पर भगवान् महावीर की मूर्ति होने के सारे लक्षण हैं। उस मूर्ति के शिर के ऊपर 3 छत्र, दोनों तरफ चंवर धारक देव तथा आधार पर सिंह का चिन्ह है। भगवान् महावीर पद्मासन मुद्रा में हैं। ग्रेनाइट की यह मूर्ति 4½ फीट ऊँची तथा 2½ फीट चौड़ी है और कदम पराई नदी के तट पर एक पत्थर में अंकित है।

एक कला इतिहास विशेषज्ञ के.टी. गांधी राजन, जिन्होंने इस प्रकार की कई मूर्तियों की तमिलनाडु में खोज की है, कहते हैं कि उन्होंने मई 2007 में भगवान् महावीर की 'आदहली अम्मा' के रूप में परिवर्तित इस मूर्ति की खोज की थी।

यह परिवर्तन लगभग 20 वर्ष पूर्व किया गया जब निकट के कोत्तूर ग्राम में रहने वाले लोगों को यह पाषाण



प्रतिमा प्राप्त हुई। श्री गांधी राजन ने बताया कि उनको यह मालूम नहीं था कि यह भगवान् महावीर की मूर्ति है। वे पलानी से एक मूर्तिकार को ले आये जिसने क्षतिग्रस्त मूर्ति को हिन्दू देवी के रूप में परिवर्तित कर दिया। भगवान् महावीर की प्राचीन मूर्ति का जीर्णोद्धार किया गया और उसमें सीमेन्ट से स्त्री की आकृति निर्मित की गई।

मूर्ति पर आभूषण बना दिये गये और रंग से आंखें बना दी गयीं। ताकि वह एक हिन्दू देवीमाता की तरह दिखने लगे और उसके पीछे त्रिशूल लगा दिये गये। इसको एक साड़ी से लपेट दिया गया। लोगों ने इसे आदहली अम्मा या अकाली अम्मा कहना प्रारंभ कर दिया। एक पुजारी इसके समक्ष पूजायें भी करता है।

श्री गांधी राजन ने नोट किया कि देवी के ऊपर तीन छत्र का होना, दोनों तरफ चंवर धारक का होना तथा नीचे आधार पर सिंह का चिन्ह होना, निश्चित रूप से स्पष्ट करते हैं कि यह भगवान् महावीर की मूर्ति थी।

श्री गांधी राजन ने बताया कि तमिलनाडु में ऐसे कई स्थान हैं, जहाँ जैन तीर्थंकर अथवा बुद्ध की मूर्तियाँ, हिन्दू मूर्तियों के रूप में परिवर्तित की गयीं हैं।

उन्होंने यह भी बताया कि एक जैन क्षेत्र, जो उसी लभपट्टी के पास पुत्तूरमलाईनाम का मदुरै से 35 कि.मी. दूर है, वहाँ तीन मूर्तियाँ भगवान् महावीर, आदिनाथ तथा पार्श्वनाथ की, पहाड़ की तलहटी में निर्मित हैं। लेकिन वे ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप में परिवर्तित कर दी गयीं हैं। विष्णु तथा शिव तो कुमकुम तथा राख से पुते रहते हैं परन्तु, क्योंकि एक मूर्ति में तीन शिर नहीं जोड़े जा सकते थे ताकि वह ब्रह्मा की तरह दिखने लगे, तो उन्होंने इसकी एक कथा बनाकर ब्रह्मा मान लिया है।

तमिलनाडु में जैनधर्म का २०० ईसापूर्व से नवी शताब्दी ईसवी तक बहुत प्रचार था। तब यहाँ जैनों की बहुत संख्या थी और तमिलनाडु के उत्तर, पूर्व एवं दक्षिण के विशाल क्षेत्र में, बहुसंख्या में जैनमंदिर तथा जैनमूर्तियों का निर्माण हुआ था।

प्रश्नकर्ता- श्री राजीव जैन, अमरपाटन

जिज्ञासा- आगम में औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति- ३ पत्य, वैक्रियिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर, आहारक शरीर की अंतर्मुहूर्त, तैजस शरीर की ६६ सागर तथा कर्मण शरीर की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ा कोड़ी सागर कही है। तो तैजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति से क्या तात्पर्य है?

समाधान- तैजसवर्गणाओं से तैजस शरीर की निष्पत्ति होती है। वे तैजस वर्गणायें आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर रहती हैं। उनमें से कोई वर्गणा तो प्राप्त होने के अगले समय में ही अलग हो जाती है और कोई वर्गणा आत्मा के साथ ६६ सागर काल तक संबद्ध रह सकती है। तैजस शरीर सामान्य तो आत्मा के साथ हमेशा रहता है। कहा भी है- 'अनादि संबंधे च' अर्थात् तैजस और कर्मण शरीर का संबंध आत्मा के साथ कितने काल तक रह सकता है- इस संबंध में कहा गया है कि तैजस वर्गणा के रहने का काल जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से ६६ सागर मानना चाहिये।

प्रश्नकर्ता- सौ. रंजना, बेलगांव

जिज्ञासा- वर्तमान के कुछ आचार्य क्षेत्रपाल आदि यक्षों की स्थापना का उपदेश देते हैं उनकी बात मानने योग्य है या नहीं?

समाधान- आगम में नवदेवताओं की पूजा का विधान मिलता है। वे नवदेवता-पंचपरमेष्ठी, जिनालय, जिनबिंब, जिनवाणी तथा जिनधर्म हैं। इनके अलावा अन्य किसी भी देव की पूजा का विधान शास्त्रों में नहीं आता। जितने भी जिनालय बनाये जाते हैं उनमें इन्हीं नवदेवताओं की पूजा की जाती है। श्रावक देवपूजा रूप प्रथम कर्तव्य की भावना से जिनमंदिर जाता है वहाँ नवदेवताओं की भक्तिभाव से पूजा करता है। ये जिनमंदिर इसी निमित्त से बनाये जाने की परम्परा अनादि काल से है।

सर्वप्रथम यह विचार करें कि इन जिनालयों में क्षेत्रपाल आदि की मूर्ति क्यों होनी चाहिये? इन जिनालयों में श्रावक, वीतरागता प्राप्ति के निमित्त आता है। वीतरागियों की पूजा करता है। इन सरागी देवी-देवताओं की पूजा करने से क्या वीतरागता की प्राप्ति संभव है? कभी नहीं। ये स्वयं

राग-द्वेष से पूरित हैं। शास्त्रों में इनके संबंध में इस प्रकार कहा है-

१. आचार्य कुंदकुंद ने मोक्षपाहुड़ में कहा हैं-
कुच्छिय देवं धम्मं, कुच्छिय लिंगं च वंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो, मिच्छादिट्ठी हवे सोदु॥ १२॥

अर्थ- जो सूर्य, चन्द्र, यक्ष आदि खोटे देवों की, खोटे धर्म व खोटे लिङ्ग की वंदना, नमस्कार या अभिवादन मन-वचन-काय से करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है।

२. श्री वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ की टीका में कहा है-

"ख्याति पूजा लाभ रूप लावण्य सौभाग्य पुत्र कलत्र राज्यादि विभूति निमित्तं रागद्वेषापहतार्त्तं रौद्र परिणत क्षेत्रपाल चंडिकादि मिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवता मूढत्वं भव्यते। न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छति।"

अर्थ- जो जीव ख्याति, पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि वैभव के लिये राग-द्वेष से आहत आर्त और रौद्र परिणाम वाले क्षेत्रपाल, चंडिका आदि मिथ्यादेवों की आराधना करते हैं उसे देवमूढता कहते हैं। वे देव कुछ भी फल नहीं देते।

इन प्रमाणों से यह निश्चित है कि ये क्षेत्रफल आदि देवी-देवता की पूजा-आराधना देवमूढता अर्थात् गृहीत मिथ्यात्व के अंतर्गत आती है। अतः मंदिरों में इनकी न तो स्थापना ही होनी चाहिये, और न पूजा ही। वर्तमान में जो इनकी पूजा या आरती की जाती है वह मिथ्यात्व को पुष्ट करती है, अतः एकदम गलत है।

सच तो यह है कि कोई भी दिगम्बर साधु इनकी स्थापना या पूजा के लिये नहीं कह सकता। यदि कहता है तो वह जैन सिद्धांत के विरुद्ध है। फिर भी यदि कोई आचार्य ऐसा उपदेश देते हैं तो उनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लग जायेगा। आज सबसे बड़ी समस्या यह है कि हम शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते। जिसका नतीजा यह होता है कि कौन साधु या आचार्य प्रामाणिक हैं, आगम के अनुसार उपदेश देनेवाले हैं या नहीं, इसका ज्ञान हमें नहीं हो पाता। हम भोले हैं, हम तो नग्न मुद्रा और पीछी कमंडलु देखकर उनकी आज्ञा मान लेते हैं और मिथ्यात्व का पोषण करने लग जाते हैं। यदि ऐसे ही हम बने रहे,

तो अनंत संसार और बढ़ता ही जायेगा, सम्यक्त्व कैसे हो सकेगा? हमें इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को व्यर्थ गंवाना नहीं चाहिये। हमें शास्त्र अध्ययन पूर्वक सच क्या है और झूठ क्या है? हेय क्या है और उपादेय क्या है इसका ज्ञानकर सत्यमार्ग का आश्रय लेना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि जो भी साधु या आचार्य, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि की स्थापना या पूजा का उपदेश देते हैं, यह उनका अपना मत है। आगम में इसका सर्वथा निषेध है। हमें अपने सम्यक्त्व की रक्षा के लिये ऐसे कार्यों से दूर रहना चाहिये।

जिज्ञासा- क्या दीक्षा लेकर परम ध्यान के प्रताप से अंतर्मुहूर्त में ही निर्वाण प्राप्ति संभव है?

समाधान- पू. आ. विद्यासागर जी महाराज अपने प्रवचनों में बहुतबार श्री धवला जी के अनुसार उपदेश देते हैं कि एक जीव को मोक्षप्राप्ति से पूर्व द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, तथा ग्यारहवें गुणस्थान में जाना आवश्यक नहीं है। कोई एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष जाने से अंतर्मुहूर्त पूर्व ही प्रथम गुणस्थान से सीधा सप्तम में आकर, हजारों बार छूटे- सातवे गुणस्थान में अवरोहण-आरोहण करके, अपने वेदक सम्यक्त्व को क्षायिक बनाकर, क्षपक श्रेणी माड़कर अंतर्मुहूर्त मात्र काल में मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

१. श्री भगवती आराधना में भी इस प्रकार कहा है-

सोलस तित्थयराणं, तित्थुप्पणस्स पढ्म दिवसम्मि ।

सामण्णणाण सिद्धि, भिण्णमुहूत्तेण संपण्णा ॥२०२२ ॥

अर्थ- भगवान् ऋषभदेव से शांतिनाथ तीर्थकर तक सोलह तीर्थकरों के तीर्थ की उत्पत्ति होने के प्रथम दिन ही बहुत से साधु दीक्षा लेकर एक अंतर्मुहूर्त में केवल ज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हुये।

२. श्री परमात्म प्रकाश में भी कहा है-

अप्पाझायहिणम्मलउ, किं बहुएँ अणणेण ।

जो झायंतह परमपउ, लब्भह एक्क-खणेण ॥१-९७ ॥

अर्थ- अब और अधिक कहने से क्या? एक निर्मल आत्मा का ध्यान करो, जिससे ध्यान करनेवाले को एकक्षण में परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

इसकी टीका में ब्रह्मदेव सूरि लिखते हैं-

“समस्त शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहितेन स्वशुद्धात्म तत्त्व ध्यायेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते।”

अर्थ- समस्त शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प रहित निज शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करने से अंतर्मुहूर्त में

मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

प्रश्नकर्ता- डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन देहली

जिज्ञासा- क्या बुद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतमबुद्ध, पूर्व में दिगम्बर साधु थे? प्रमाण देकर समझाइये।

समाधान- शाक्यवंशी कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के राजकुमार महात्मा बुद्ध, भगवान् महावीर के समकालीन थे। प्रोफेसर भंडारकर ने (जे.एच.एम. इलाहाबाद- फरवरी १९२५ के पृष्ठ २५ पर) कहा है कि महात्मा बुद्ध कुछ समय तक जैनमुनि रहे। महात्मा बुद्ध की चर्या कुछ समय तक जैनमुनि के रूप में थी। बौद्ध ग्रंथ मज्झिम निकाय पृष्ठ ४८-४९ में महात्मा बुद्ध लिखते हैं वहाँ सारिपुत्र! मेरी यह तपस्विता थी- अचेलक (नग्न) था। मुक्ताचार, हस्तावलेटनन (हथचट्टा) नष्ट हिमादन्तिक (बुलाई भिक्षा का त्यागी) न तिष्ठ भदन्तिक (ठहरिये, कहकर दी गई भिक्षा को) न अपने उद्देश्य से किये गये का और न निमंत्रण को खाता था। --- न मछली, न मांस, न शराब पीता (पीता) था। --- शाकाहारी था। --- केश दाढ़ी नॉचने वाला था। इससे स्पष्ट है कि महात्माबुद्ध जैनधर्म ग्रहण करके जैनसाधु हो गये थे। श्री भंडारकर ने आगे पृष्ठ २६ पर कहा है, महात्माबुद्ध वास्तव में भ. महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर जैनसाधु बन गये थे, परन्तु जैनसाधु की कठिन चर्या पालने में असमर्थ होने पर उन्होंने मध्यम मार्ग चलाया। यही मध्यम मार्ग 'बौद्धधर्म' कहलाया।

बौद्धग्रंथ मज्झिमनिकाय पृष्ठ ९२-९३ पर और भी कहा है- मैंने निर्ग्रन्थों से पूछा ऐसी घोर तपस्या की वेदना को क्यों सहन कर रहे हो? तो उन्होंने कहा 'निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। उन्होंने बताया है कि कठोर तप करने से कर्म कटकर दुःख क्षय होता है।' इस पर बुद्ध कहते हैं "यह कथन हमारे लिये रुचिकर प्रतीत होता है और हमारे मन को ठीक जचता है।" महात्मा बुद्ध पर भ. महावीर का बहुत प्रभाव था इसी का फल है कि उन्होंने बौद्धग्रंथ 'धम्मपद' के पृष्ठ ३३१ पर भ. महावीर की सर्वज्ञता को स्वीकार किया और उनकी प्रशंसा की प्रो. सिल ने (जे.एच.एम. नवम्बर १९२६ पृष्ठ २) कहा है कि उन्होंने वास्तव में बहुत से जैनसिद्धांतों को स्वीकार किया। डॉ. हर्मन जैकोवी ने दि. जैन सूरत पत्र के पृष्ठ ४८ पर लिखा है कि जैनदर्शन, बौद्धमत की माता है। श्री बालगंगाधर तिलक ने जैनधर्म महत्त्व भाग २ (सूरत) पृष्ठ ८३ पर महात्मा बुद्ध को भगवान् महावीर का शिष्य स्वीकार

किया है। विद्वानों का कथन है कि बौद्धधर्म तो जैनधर्म से निकला है।

जैनशास्त्र दर्शनसार में महात्मा बुद्ध को जैनाचार्य पिहिताश्रव (जो भ. पार्श्वनाथ के तीर्थ में हुये थे) का शिष्य मुनि बुद्धकीर्ति के नाम से कहा गया है।

उपरोक्त सभी प्रमाणों के अनुसार महात्मा बुद्ध पहले जैनमुनि बने थे। परन्तु जैनमुनि की कठिन चर्या न पाल सकने के कारण उन्होंने बौद्धमत चलाया था। यह बौद्धग्रंथों से ही सिद्ध होता है।

प्रश्नकर्ता- नरेन्द्र शाह सोलापुर

जिज्ञासा- जब हम स्वाध्याय करते होते हैं तब भी क्या ज्ञानावरणीय कर्म का बंध निरंतर होता रहता है?

समाधान- वर्तमान में सभी जीवों के, चाहे वे किसी भी गति के हों (विदेहक्षेत्र एवं विजयार्थ निवासियों को छोड़कर) प्रथम से सप्तम गुणस्थान तक ही (अपनी योग्यतानुसार) पाये जाते हैं। इन सभी जीवों के आयु के अपकर्ष काल में आठों कर्मों का तथा अपकर्षकाल के अलावा अन्य काल में आयु के अलावा सातों कर्मों का प्रतिसमय बंध होता है। इन सात कर्मों की निम्नलिखित प्रकृतियाँ निरन्तरबंधी (ध्रुवबंधी) हैं-

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, अंतराय ५, कषाय १६,

मिथ्यात्व, निर्माण १, वर्ण आदि ४, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, उपघात=४७। जिस जीव का प्रथम गुणस्थान है उसके तो इन ४७ का निरंतर बंध होता रहता है। ऊपर के गुणस्थानों में मिथ्यात्वादि का बंध यथायोग्य होना रुक जाता है।

जहाँ तक ज्ञानावरणीय कर्म की पांचों प्रकृतियों के बंध का प्रश्न है, इनका बंध तो दशवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज तक सभी जीवों के निरंतर प्रतिसमय होता ही रहता है। अतः हम और आप स्वाध्याय कर रहे हों, या व्यापार में लगे हों, ज्ञानावरणीय की पांचों प्रकृतियों का बंध प्रतिसमय होंना ही है। अंतर इतना अवश्य होता है कि स्वाध्याय करते समय, कषायों की मंदता होने से, कर्म प्रकृतियों में स्थिति तथा अनुभाग बंध कम होता है, और सांसारिक कार्य करते समय कषायों की तीव्रता होना स्वाभाविक होने से स्थिति-अनुभाग बंध अधिक होता है। ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों का स्थिति व अनुभाग बंध कम होना, आत्मा के लिये श्रेयस्कर है। अतः स्वाध्याय आदि कार्यों में प्रवृत्त होना ही श्रेष्ठ है।

1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा (उ.प्र.)

पर्युषण पर्व हेतु आमंत्रण शीघ्र भेजें

श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान सांगानेर से श्रमण संस्कृति पोषक, कुशल वक्ता, आर्षमार्गीय विद्वान् विगत दस वर्षों से जैनधर्म की प्रभावना के लिए देश-विदेश के विभिन्न स्थानों से आमंत्रित किये जाते हैं। इस वर्ष यह पर्व दिनांक 16.09.07 से 25.09.07 तक समस्त जैनधर्मानुयायी बंधुओं द्वारा हर्षोल्लास पूर्वक मनाया जायेगा। इस अवसर पर विधि-विधान एवं प्रवचनार्थ विद्वानों के आमंत्रण हेतु अपना आमंत्रण पत्र दिनांक 31.08.07 तक संस्थान कार्यालय में प्रेषित करें, जिससे समय रहते समुचित व्यवस्था की जा सके।

पं. आलोक मोदी 'जैदर्शनाचार्य'
श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर,
जयपुर (राजस्थान) फोन : 0141-2730552,
मो. 093142 92842, 09887867822

प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम्।

तृतीये नार्जितं पुण्यं, चतुर्थे किं करिष्यति ॥

जिसने बाल्यावस्था में विद्या नहीं पढ़ी, युवावस्था में धन नहीं कमाया, और वृद्धावस्था में धर्मसाधन नहीं किया वह मरने के समय क्या करेगा?

(समय के दुरुपयोग का फल)

समाचार

विद्वत्परिषद् कार्यकारिणी की बैठक संपन्न

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् कार्यकारिणी समिति की बैठक डॉ. शीतलचन्द्र जैन (जयपुर) की अध्यक्षता में दि. १४ मई, २००७ को श्री महावीर दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र, कुण्डलपुर (जिला-दमोह) म.प्र. में संपन्न हुई।

इस उपवेशन में 'विद्वत्परिषद्' के अध्यक्ष डॉ. शीतलचन्द्र जैन ने प्रस्ताव दिया कि परिषद् के पूर्व अध्यक्ष एवं जैनदर्शन के ख्यातिप्राप्त अध्येता विद्वान् डॉ. रमेशचन्द्र जैन डी.लिट्. (बिजनौर) का उनकी सुदीर्घ सेवाओं के लिए अखिल भारतीय स्तर पर अभिनन्दन किया जाय। इस उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन किया जाय। उक्त प्रस्ताव का सभी सदस्यों ने समर्थन किया। परस्पर विचार-विमर्श पूर्वक निश्चित किया गया कि डॉ. रमेशचन्द्र जैन के सम्मान में प्रकाशित होने वाले अभिनन्दन ग्रंथ के संपादक डॉ. जयकुमार जैन (मुजफ्फरनगर) एवं डॉ. नेमिचन्द्र जैन (खुरई) होंगे।

अनंतर अध्यक्ष की अनुमति से तय किया गया कि संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आगामी चातुर्मास में उन्हीं के सान्निध्य में विद्वत्परिषद् सात दिवसीय श्रुत आराधना शिविर आयोजित कर उनसे दिशा दर्शन प्राप्त करेगी।

विद्वत्परिषद् की शृंखला में विद्वानों से आचार्य प्रणीत लघुग्रंथ (संपादित, अनुवादित, विवेचनात्मक) आमंत्रित किये जायेंगे। सर्वप्रथम संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की शतक काव्यकृति 'चैतन्य चन्द्रोदय' एवं डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन (सनावद) की कृति 'श्रावकाचार संहिता' के प्रकाशन का निर्णय लिया गया तथा भगवान् महावीर की जन्मकल्याणक भूमि वासोकुण्ड-वैशाली में भगवान् महावीर मंदिर का निर्माण यथाशीघ्र प्रारंभ करने की अपील की गई।

विद्वत्परिषद् विगत दिनों दिवंगत परिषद् के संरक्षक पं. पद्मचन्द्र जैन (पूर्व संपादक-अनेकान्त, नई दिल्ली, दिनांक १ जनवरी, २००७), डॉ. नंदलाल जैन (रीवा,

दिनांक ३१ जनवरी, २००७) तथा वरिष्ठ विद्वान् पं. खूबचन्द्र शास्त्री (मड़ावरा, दिनांक १४ जनवरी, २००७), पं. दयाचन्द्र जैन (अजयगढ़, दि. २५ दिसम्बर, २००६), पं. दयाचन्द्र जैन (उज्जैन), पं. खुशालचन्द्र जैन (रजाखेड़ी-सागर, दि. १७ अप्रैल, २००७) वैद्य केसरीमल जैन (कटनी, दि. ४ मई) श्री सुरेशचन्द्र जैन (लखनऊ), श्री राजकुमार जैन (महावीर प्रेस, वाराणसी) के निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त करते हुए शोक संतप्त परिवारीजनों के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करती है। अंत में सभी सदस्यों के विद्वत्परिषद् को मिल रहे सहयोग के प्रति अध्यक्ष डॉ. शीतलचन्द्र जैन ने आभार व्यक्त किया तथा भविष्य में भी सहयोग बनाये रखने का आह्वान किया। उक्त बैठक के आयोजन में पं. अमरचन्द्र जैन की महती भूमिका रही। सभी विद्वानों ने महावीर उदासीन आश्रम, कुण्डलपुर की व्यवस्था एवं उपयोगिता की सराहना की। अंत में बड़े बाबा के मंदिर निर्माण में सहयोग की वचनबद्धता एवं जयघोष के साथ सभा विसर्जित की गई।

प्रस्तुति- डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन

मंत्री- अ.भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

भोपाल में विद्वत्-शिक्षण-प्रशिक्षण-शिविर संपन्न

भोपाल परम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में अ.भा.दि.जैन शास्त्रपरिषद् के द्वारा भोपाल पंचायत कमेटी के सौजन्य से दि. १९ जून २००६ (श्रुत पंचमी) से २६ जून २००७ तक विद्वत् शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर का ऐतिहासिक आयोजन संपन्न हुआ। ध्वजारोहण सहित विशाल "श्रुत शोभा यात्रा" का नगर भ्रमण, दीप प्रज्वलन, मंगलकलश स्थापना से उद्घाटन सत्र प्रारंभ हुआ। मध्याह्न काल से प्रशिक्षण कक्षार्थे प्रारंभ हुई, जिनमें नित्यप्रति आगम व सैद्धान्तिक प्रशिक्षण-पं. शिवचरनलाल जी मैनपुरी, डॉ. रतनचन्द्र जैन भोपाल, तत्त्वार्थ सूत्र विवेचना-डॉ. श्रेयांस कुमार जी बड़ौत, दशलक्षण धर्म व विधिविधान अनुष्ठान प्रशिक्षण क्रमशः-पं. निहालचंद्र जैन बीना, ब्र. जय निशान्त टीकमगढ़ एवं ध्यान प्राणायाम

योगासन का प्रशिक्षण- पं. फूलचन्द जी योगाचार्य छतरपुर ने दिया। शिविर संचालन ब्र. जय निशान्त जी ने शिविर संयोजकद्वय पं. विनोद कुमार रजवांस व पं. पवन दीवान मुरैना के साथ पं. जयन्त सीकर एवं पं. मनीष शाहगढ़ के सहयोग से किया। प्रतिदिन प्रातः ५ बजे ईशवंदना, ध्यान प्राणायाम योग से कक्षायें प्रारम्भ होकर दिनचर्या निवृत्ति, श्री जिनेन्द्राभिषेक पूजन (सामूहिक ससंगीत) क्यों-कैसे? विवेचनाओं के साथ, स्वल्पाहारोपरांत प्रशिक्षण कक्षायें, बाल शिक्षण कक्षायें, उपाध्याय श्री का समीक्षात्मक प्रवचन, भोजन-मध्याह्न प्रशिक्षण कक्षायें, प्रवचन, सांध्य भोजन, गुरुभक्ति, श्रीजिनआरती सहित ३-३ नवोदित विद्वान्/प्रशिक्षणार्थियों के प्रवचन, उनकी समीक्षा एवं वरिष्ठ विद्वान् के प्रवचन के साथ रात्रि १० बजे तक शिविर दिनचर्या पूर्ण होती थी। शिविर में पंचवर्षीय निर्धारित पाठ्यक्रम संचालित हुआ। २५ जून की रात्रि शास्त्रिपरिषद् की कार्यकारिणी बैठक संपन्न हुई, २६ जून को प्रातः शास्त्रि-परिषद् का खुला अधिवेशन १५५ विद्वानों की उपस्थिति में परिषद् अध्यक्ष डॉ. श्रेयांस कुमार जैन बड़ौत की अध्यक्षता में शुभारंभ हुआ, परिषद् की ऐतिहासिक उपलब्धियों पर पं. शिवचरनलाल जैन मैनपुरी ने प्रकाश डाला, महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुये, विविध-विधाओं के द्वारा सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने वाले परिषद् को समर्पित वय-ज्ञान वृद्ध विद्वानों का पुरस्कार-समारोह, प्रशिक्षण कक्षाओं का परीक्षा प्रमाण-पत्र पुरस्कार समारोह, मध्याह्न में समागत समस्त विद्वतवर्ग का सम्मान समारोह एवं उपाध्याय श्री का अंत आशीर्वचन, गुप फोटो सेशन हुआ। समस्त भोपाल पंचायत कमेटी का अतिथि सत्कार सरस्वती सपुर्तों की सेवा सुश्रूषा भावना स्तुत्य रही। सहारा समय, दूरदर्शन चैनल सहित विनीत जैन के माध्यम से म.प्र. की राजधानी के समस्त न्यूज पेपरों के द्वारा सचित्र समाचार प्रस्तुति ने क्रान्ति उत्पन्न की। भोपाल पंचायत ने पुनः अपूर्व ऐतिहासिक समारोह आयोजित करने का संकल्प लिया, इस अवसर पर एक कन्या छात्रावास का शिलान्यास भी हुआ। दि. २६ जून, २००७ को सांध्यबेला में पंचायत कमेटी के साथ शताधिक विद्वानों ने सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर की

पावनधरा पर विराजित आचार्य श्री विद्यासागर जी के ससंघ दर्शन लाभार्थ प्रस्थान कर पुण्य-धर्मलाभ लेकर इस महाज्ञानयज्ञ को संपन्न किया।

विद्वान् पुरस्कृत

पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी के ससंघ सान्निध्य में अ.भा. दि. जैन शास्त्रिपरिषद् द्वारा दि. जैनमंदिर चौक धर्मशाला, भोपाल (म.प्र.) में आयोजित विद्वत् शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर एवं अधिवेशन समारोह में दि. २६ जून, २००७ को परिषद् के अध्यक्ष डॉ. श्रेयांसकुमार जी जैन द्वारा निम्नलिखित विद्वानों को निम्नलिखित पुरस्कारों से सम्मानित किया गया-

१. प्रतिष्ठाचार्य पं. गुलाबचन्द्र जी पुष्प, टीकमगढ़ (म.प्र.) प्रतिष्ठाविधि में विशेष योगदान हेतु 'पं. बाबूलाल जी जमादार पुरस्कार' से सम्मानित किये गये।

२. पं. शिवचरनलाल जी, मैनपुरी (उ.प्र.) का सम्मान सैद्धांतिक-आध्यात्मिक प्रवचनों से धर्मप्रचार के उपलक्ष्य में 'पं. प्रसन्न कुमार जी स्मृति पुरस्कार' द्वारा किया गया।

३. प्रो. रतनचन्द्र जी जैन, भोपाल (म.प्र.) सैद्धांतिक आलेखों द्वारा जिनधर्म-प्रभावना के लिए 'दानवीर श्रेष्ठी अमरचन्द्र जी पहाड़िया स्मृति पुरस्कार' से सम्मानित किये गये।

४. पं. सागरमल जी विदिशा (म.प्र.) का सम्मान जैनधर्म-दर्शन की प्रभावक प्रवचन सेवार्थ 'दानवीर श्रेष्ठी फूलचन्द जी जैन स्मृति पुरस्कार' द्वारा किया गया।

५. पं. मुन्नालाल जी शास्त्री ललितपुर (उ.प्र.) पूजा-विधान द्वारा विशिष्ट धर्म प्रभावना के लिए 'पं. मन्नुलाल जी प्रतिष्ठाचार्य स्मृति पुरस्कार' से सम्मानित किये गये।

६. डॉ. सुरेशचन्द्र जी जैन दिल्ली का सम्मान जैन पत्रकारिता में विशिष्ट अवदान हेतु 'पं. रामस्वरूप स्मृति पुरस्कार' से किया गया।

७. पं. बालमुकुंद जी शास्त्री मुरैना (म.प्र.) जैनविद्या के प्रचार-प्रसार हेतु श्री 'जे.के. एल. ट्रस्ट पुरस्कार' (अहमदाबाद) से सम्मानित किये गये।

प्रशासनिक सेवा में चयनित प्रत्याशी

जिनका पूज्य मुनि श्री क्षमासागर जी के सान्निध्य में मैत्री समूह द्वारा सागर नगर में सम्मान किया गया

S.No.	Roll No.	Name	Father's Name	Address	Designation	Contact
1.		Rajeev Jain	Shri Veerendra Kumar Jain	Jabalpur	D.S.P.	98689-27704
2.	133470	Sapna Jain	Shri Anil Kumar Jain	Guna	Dy - Colocotr	98930-59651
3.	209701	Rejesh Jain	Shri Suresh Chand Jain	Madawara (Lalitpur)	Commandant	94251-59997
4.	135930	Smt. Abha Jain	Shri Satyendra Jain	Jabalpur	Com. Tax Officer	98272-02628
5.	133472	Ku. Sonali Jain	Shri Anil Kumar Jain	Guna	Com. Tax Officer	98930-59651
6.	209772	Anurag Jain	Smt. Vidya Bai Jain	Hoshangabad	Com. Tax Officer	98273-73574
7.	143730	Shilpa Jain	Dr. Vijay Ku. Jain	Jabalpur	Convenor Tri-Welfare Dept.	
8.	209753	Sumat Jain	Shri Anand Ku. Jain	Mahroni (Lalitpur)	Convenor Tri-Welfare Dept.	98273-73574
9.	194733	Ragini Jain	Shri Rishabh Jain	Shivpuri	Co- Inspector	07492-401101
10.	153788	Ku. Prachi Jain	Shri Damodar Jain	Shahgarh (Sagar)	Co- Inspector	94253-33939
11.	135418	Sanjay Jain	Shri Phool Chand Jain	Tikamgarh	Co- Inspector	99771-87963
12.	120259	Atul Jain	Shri Devendra Ku. Jain	Kesli (Sagar)	Co- Inspector	
13.	209771	Alok Jain	Shri P.C. Jain	Bina (Sagar)	Co- Inspector	94254-53248
14.	148455	Ku. Nidhi Jain	Shri Nerendra Ku. Jain	Chhapara (Seoni)	Co- Inspector	94246-81444
15.		Sudhir Jain	Shri Prem Chand Jain	Karrapur (Sagar)	Co- Inspector	
16.	131968	Pradeep Jain	Shri Prem Chand Jain	Shivpuri	Naib Tahsildar	94240-90403
17.	150919	Ku. Vinita Jain	Shri Komal Chand Jain	Tikamgarh	Naib Tahsildar	
18.	205134	Akash Singhai	Shri K.C. Jain	Sagar	Naib Tahsildar	99070-16945
19.	151098	Ku. Leena Pankaj	Dr. O.P. Jain	Tikamgarh	Naib Tahsildar	94254-53248
20.	113355	Neelsh Jain	Shri Ashok Ku. Jain	Kotma	Dy.- Jailor	
21.	209974	Jinendra Jain	Shri Ratan Chand Jain	Badagaon (Tikamgarh)	Dy.- Jailor	94251-60276
22.	178208	Pankaj Kumar Jain		Mandsor	Ex. - Inspector	94253-92235
23.	107722	Sanjay Jain	Shri Sundar Lal Jain	Parol (Lalitpur)	Ex. - Inspector	98937-20973
24.	194847	Akhilesh Kumar Jain		Badarvas (Shivpur)	Ex. - Inspector	
25.	140522	Satish Jain	Shri K.L. Jain	Khamariya Mojilal (Sagar)	Ex. - Inspector	94243-10900
26.	156796	Ravindra Jain	Late Shri Nirmal Jain	Bakal (Katni)	Ex. - Inspector	
27.	205346	Nishant Samaiya	Shri Rajkumar Jain	Sagar	Ex. - Inspector	93009-27369
28.	103847	Veerendra Jain			Co - Inspector	
29.	159983	Rajendra Jain			Naib Tahsildar	
30.	105195	Dr. Archana Jain			Ex. - Inspector	
31.	177639	Smt. Tripti Shah			Ex. - Inspector	

शान्तिजिन-स्तवनम्

पं० शिवचरनलाल जैन, मैनापुरी

1

समग्रतत्त्वदर्पणं, विमुक्तिमार्गघोषणम् ।
कषायमोहमोचनं, नमामि शान्तिजिनवरम् ॥ नमामि ---

2

त्रिलोकवन्द्यभूषणं, भवाब्धिनीरशोषणम् ।
जितेन्द्रियं अजं जिनं, नमामि शान्तिजिनवरम् ॥ नमामि ---

3

अखण्डखण्डगुणधरं, प्रचण्डकामखण्डनम् ।
सुभव्यपद्मदिनकरं, नमामि शान्तिजिनवरम् ॥ नमामि ---

4

एकान्तवादमतहरं, सुस्याद्वादकौशलम् ।
मुनीन्द्र-वृन्द-सेवितं, नमामि शान्तिजिनवरम् ॥ नमामि ---

5

नृपेन्द्रचक्रमण्डनं, प्रकर्मचक्रचूरणम् ।
सुधर्मचक्रचालकं, नमामि शान्तिजिनवरम् ॥ नमामि ---

6

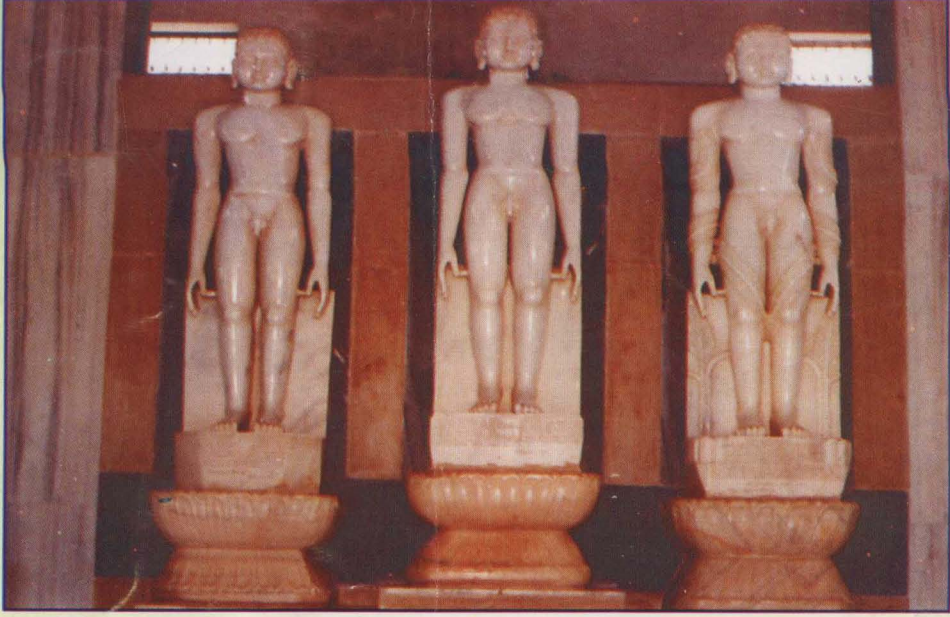
अग्रन्थनग्नकेवलं, विमोक्षधामकेतनम् ।
अनिष्टघनप्रभञ्जनं, नमामि शान्तिजिनवरम् ॥ नमामि ---

7

महाश्रमणमकिञ्चनम्, अकामकामपदधरम् ।
सुतीर्थकर्तृषोडशं, नमामि शान्तिजिनवरम् ॥ नमामि ---

8

महाव्रतन्धरं वरं दयाक्षमागुणाकरम् ।
सुदृष्टिज्ञानव्रतधरं, नमामि शान्तिजिनवरम् ॥ नमामि ---



श्रीदिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि (कोनीजी) पाटन के त्रिमूर्ति जिनालय में विराजमान भगवान् आदिनाथ, भरत एवं बाहुबली स्वामी की प्रतिमाएँ



अमरकंटक से जबलपुर की ओर विहार करते समय विश्राम के क्षणों में आचार्य श्री विद्यासागर जी, मुनि श्री चन्द्रसागर जी से चर्चा करते हुए प्रसन्न मुद्रा में